



प्रारंभिक पाठमाला



अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन

सहज

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

- ए. नागराज (प्रणेता एवं लेखक)

मध्यस्थ दर्शन सहज 'प्रवेश' पुस्तक

1. जीवन विद्या एक परिचय (प्रकाशित पुस्तक)
2. सहअस्तित्ववाद एक परिचय (संकलन) {PDF}
3. प्रारंभिक पाठमाला {PDF}
4. सत्संग (2005 प्रतिलेखन) {PDF}
5. मध्यस्थ दर्शन एक परिचय (1999 प्रतिलेखन) {PDF}
6. सहअस्तित्ववादी विज्ञान (1999 प्रतिलेखन) {PDF}
7. मूल तत्व अवलोकन (संकलन) {PDF}

PDF Download Link : dub.sh/parichay

प्रकाशक :

जीवन विद्या प्रकाशन, दिव्यपथ संस्थान

अमरकंटक, जिला – अनूपपुर (म.प्र.), भारत, 484886

www.divya-path.org

प्रणेता एवं लेखक :

ए. नागराज

सर्वाधिकार दिव्यपथ संस्थान के पास सुरक्षित

संस्करण: e-book PDF: 14 जनवरी 2026

प्रामाणिक वेबसाइट : www.madhyasth.org

प्रकाशित पुस्तक प्राप्ति : purchase.madhyasth.org; books@divya-path.org

सदुपयोग नीति:

यह प्रकाशन 'सर्वशुभ' के अर्थ में है और इसका कोई व्यापारिक उद्देश्य नहीं है। इसका उपयोग एवं नकल, निजी अध्ययन के लिए उपलब्ध है। इसके अलावा किसी भी अर्थ में प्रयोग (नकल, मुद्रण, आदि) करने के लिए 'दिव्यपथ संस्थान', अमरकंटक, जिला अनूपपुर (म.प्र.) भारत – 484886 से पूर्व में लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है। यह अपेक्षित है की इन अवधारणाओं को दूसरी जगह प्रयोग करते समय इस ग्रंथ का पूर्ण उद्धरण (संदर्भ) दिया जाएगा। कृपया दर्शन की पवित्रता बनाये रखें।

इस संकलन के बारे

यह पुस्तक/संकलन श्रद्धेय नागराजजी के अप्रकाशित लेखों से है।

पाठकों को ध्यानाकर्षण है कि पढ़ते समय अर्थ पर संदेह होने पर प्रकाशित ग्रंथों को माना जाए।

[मूल पाण्डुलिपि प्रति का लिंक](#)

जिम्मेदारियाँ :

टाइपिंग एवं जांच: वंदना सिंघल, संदीप भाटिया, गुंजन परमार, अमरेश, रचना सुधीर

स्कैनिंग एवं वर्गीकरण: श्रीराम नरसिम्हन

सुधार संपर्क: books@divya-path.org

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना	7
1. राष्ट्रीय चरित्र: विगत का अवलोकन तथा विकल्प की आवश्यकता.....	7
2. प्राचीन ज्ञान-विज्ञान मध्यस्थ दर्शन, सह-अस्तित्ववाद व जीवन विद्या.....	13
3. सही बात को समझना	16
मानव.....	20
1. मानव जीवन एवं जीवनी-क्रम	20
2. मानव में सत्य की खोज क्यों?	24
3. बुद्धिजीवी मानव के प्रति प्रार्थना	26
4. परिवार मानव: एक आवश्यकता (क्र.१)	29
5. परिवार मानव: एक आवश्यकता (क्र.२)	32
मध्यस्थ दर्शन.....	35
1. मध्यस्थ दर्शन (क्र.१).....	35
2. मध्यस्थ दर्शन (क्र.२).....	38
3. मध्यस्थ दर्शन (क्र.३).....	40
4. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ४)	43
5. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ५)	44
6. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ६)	49
7. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ७): 'चैतन्य प्रकृति का रहस्य उद्घाटन'	52
7. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ७) : दर्शन की महत्ता	56
जीवन विद्या	62
1. जीवन विद्या (क्र. १)	62
2. जीवन विद्या (क्र. २)	64
3. जीवन विद्या (क्र. ३)	67
4. जीवन विद्या (क्र. ४)	73
5. जीवन विद्या (क्र. ५)	74

6. जीवन विद्या (क्र. ६)	77
7. जीवन विद्या (क्र. ७)	81
8. जीवन विद्या (क्र. ८)	86
9. जीवन विद्या (क्र. ९)	90
10. जीवन विद्या (क्र. १०)	91
11. जीवन विद्या (क्र. ११)	92
12. जीवन विद्या (क्र. १२)	95

प्रस्तावना

1. राष्ट्रीय चरित्र: विगत का अवलोकन तथा विकल्प की आवश्यकता

विगत का अवलोकन

1. सुदूर विगत से आज पर्यन्त विभिन्न संस्कृतियाँ एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित हुई और मौलिक रूप में भौतिक एवं अधिभौतिक चिंतन पर आधारित रही है। इसी चिंतन के आधार पर उनकी धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रणालियाँ निर्मित एवं विकसित हुई। वर्तमान में अपने समस्त साधनों से सम्पन्न होकर ये संस्कृतियाँ अथवा सामाजिक व्यवस्थाएँ परस्पर सम्पर्क में आई। परिणाम स्वरूप प्रत्येक संस्कृति एवं व्यवस्था की अपनी श्रेष्ठता एवं उपादेयता के प्रतिस्थापन-क्रम में पारस्परिक संघर्ष पूर्वक दलन, दमन एवं शोषण की कूटनीति को वर्तमान राजनीति का रूप समझा जा रहा है। यही अंतर्द्वंद्व अथवा अंतर्विरोध भयंकर उथल-पुथल एवं तृतीय विश्वयुद्ध की संभावनाओं से गर्भित है।
2. युद्ध अथवा युद्ध की मानसिकता मानव विकास के लिये कभी भी सहायक सिद्ध नहीं हुई है। इससे जन-समूह भयाक्रांत होकर व्यक्ति केन्द्रित अथवा व्यक्तिपरक विचारों में सीमित साथ ही सामाजिकता के चिंतन से विमुख होता गया जबकि सामाजिकता ही निर्भयता अथवा निर्भयता ही सामाजिकता है।
3. अतीत में धर्मप्रधान एवं अर्थप्रधान राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्रयोग अपनाये गये थे। धर्मप्रधान राजनीति के मूल में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक के भय एवं प्रलोभन मुख्य तत्व रहे हैं। इसी प्रकार अर्थप्रधान राजनीति पूंजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्था प्रणाली से प्रभावशील हुई। इन दोनों के लक्ष्य वर्ग एवं अतिभोग अथवा बहुभोग ही रहे हैं।
4. इस प्रकार अतीत के भय और प्रलोभन के रहस्य पर आधारित धर्म प्रधान व्यवस्थायें न तो मानव को निर्भ्रम व निर्भ्रांत बना सकी और न उसे समृद्धि, समाधान एवं सुख की निरन्तरता ही प्रदान कर सकी। अतिभोग एवं बहुभोग वाली अर्थ प्रधान व्यवस्थायें भी मानव को जीवन मूल्य एवं समाज मूल्य से समृद्धि नहीं बना सकी। फलतः संशंकता, भय, निराशा एवं कुण्ठा की अभिवृद्धि हुई।
5. भौतिकवादी व्यवस्था की असफलता
क) अनेक सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, मत आदि के आधार पर स्थापित समझौतावादी वर्ग भावना से सम्बद्ध समाज कहलाने वाली इकाईयाँ मानव के लिए समाधान, समृद्धि, अभय एवं सहअस्तित्वपूर्ण सार्वभौमिक सामाजिकता राष्ट्रीयता को विकसित करने में समर्थ नहीं रहीं। फलस्वरूप प्रत्येक देश असमाधान, संशंकता, भय एवं सह अस्तित्व विहीनतावश दिभ्रमित होकर सम्पूर्ण मानव के विनाश हेतु शस्त्र भंडार या निर्माण करने के लिये हठ एवं होड़ सहित प्रयास रत है। वर्तमान में प्रधानतः युद्ध निपुणतापूर्ण युद्ध सामग्रियों के निर्माण एवं संग्रह करने में जो देश समृद्ध है उसी देश को मनुष्य ने विकसित देश कहा। क्या

स्वविध्वंस क्षमता विकास की कसौटी मानी जा सकती है? क्या यह क्रूरता का द्योतक नहीं है? क्या क्रूरता, अखंड सामाजिकता राष्ट्रीयता हो सकती है? क्या यह दानवीयता नहीं है? क्या दानवीयता ही विकास है? यह सब प्रश्न अपने आप उभर कर आते हैं। साथ यह बात भी स्मरण में आती है कि क्या राष्ट्र व राज्य के विकास एवं विकासशीलता की सम्पत्ति, सामग्री, उद्देश्य एवं आदर्श क्रूरता हो सकती है? यदि हां तब उसके साथ और दो तत्व हीनता एवं दीनता अवश्यंभावी हैं हीनता का तात्पर्य विश्वासघात से एवं दीनता का तात्पर्य अभाव एवं अक्षमता से है। यदि हीनता, दीनता एवं क्रूरता राज्य एवं राष्ट्र की मानसिकता होती तो क्या सामाजिक व्यवस्था एवं उसके कार्यक्रम कभी सफल हो सकते हैं? इन तमाम प्रश्नों के उत्तर में प्रत्येक सामान्य व्यक्ति का उत्तर नकारात्मक ही होगा। ऐसी स्थिति में सामाजिकता का क्या आधार रहेगा? मानव की मानसिकता ही उसके निर्माण का मूल आधार होती है। यदि किसी मानव या राष्ट्र की मानसिकता के मूल में छल, कपट, दम्भ, पाखंड, द्रोह-विद्रोह, वध-विध्वंस अथवा स्वयं के लिये अति भोग या बहुभोग रहा हो तो उस राष्ट्र या सनाज का अंतिम परिणाम स्वयं या अन्य के लिये क्लेश शृंखला के अलावा और क्या हो सकता है? यह सत्र भौतिकवादी अर्थप्रधान चिन्तन एवं व्यवस्था का अब तक का परिणाम रहा है।

- ख) भौतिकवादी अथवा भोग-परक चिन्तन प्रकृति के विकास क्रम को मानते हुए गठनपूर्णता, किया पूर्णता एवं आचरणपूर्णता अर्थात् चैतन्य प्रकृति के सम्यक अध्ययन की मानसिकता निर्मित करने में समर्थ नहीं रहा है। जिसके फलस्वरूप समाज मूल्य एवं जीवन मूल्य का समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इसी सत्यतावश मनुष्य को जड़ प्रकृति अर्थात् रासायनिक अथवा भौतिक परिणाम एवं परिवर्तन की सीमा में विश्लेषण करते हुए यांत्रिक जीवन के लिये बाध्य किया है। मनुष्य का स्वभाव से ही संवेदन एवं संज्ञानशील होने के कारण यंत्रवत जीवन तक सीमित रह सकना संभव नहीं हो रहा है और उस घुटन से बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा है। साथ ही स्वस्थ दिशा व मार्ग के लिये प्रतीक्षारत है।
- ग) अधि भौतिकवादी (धर्मप्रधान) व्यवस्था की असफलता-अधिभौतिकवादी धर्म प्रधान चिन्तन व व्यवस्था ने रहस्य पर आधारित पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक एवं मोक्षवादी प्रलोभन या भय की मानसिकता को निर्मित किया। साथ ही मोक्ष या निवृत्तिवादी मानसिकता के अतिरिक्त स्वर्ग व पुण्य के फल में भोग प्राप्ति का प्रलोभन अथवा उसके विनरीत में भोग के अभाव होने के साथ प्रताड़न-भय की मानसिकता को निर्मित किया। इतना ही न होकर अर्थात् उच्चांग स्थितियाँ अर्थात् मोक्ष कैवल्य, सहज-अवस्था एवं साक्षात्कार के लिये भी रहस्य का आवरण बना ही रहा। इसी रहस्यमयता-वश अधिभौतिक या धर्म प्रधान व्यवस्था के अन्तर्गत निर्मित मानसिकता के अन्तर्गत आने वाले मानव समाज में आत्म निर्भरता के स्थान पर एक सर्वशक्तिमान रहस्यमय इकाई पर पराश्रित रहने की मानसिकता को तैयार किया। इसी पराधीन भावना या मानसिकता ने मानव को परम्परा का दास बनाया एवं इसके कारण पुरुषार्थ तथा स्वअस्तित्व के प्रति गौरवपूर्वक साहसिकता विकसित नहीं होने पाई। इस प्रकार अधिभौतिकवादी या धर्मप्रधान चिन्तन प्रकृति के विकासक्रम में मानव जीवन, जीवनी क्रम एवं जीवन के कार्यक्रम को विश्लेषण पूर्वक विकसित करने में समर्थ नहीं रहा है।

घ) विकल्प की आवश्यकता ५-IV इन ऐतिहासिक प्रयोगों एवं उनके परिणामों से स्पष्ट होता है कि धर्म एवं अर्थपरक चिन्तनों पर आधारित व्यवस्थायें मानव समाज पर प्रयोग के द्वारा व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं। अस्तु विकल्प के रूप में एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता की अनुभूति वर्तमान विश्व-समाज को हो रही है जिसमें समाधान, सद्भि, अभय एवं सह-अस्तित्व सर्व सुलभ हो सके। ऐसी व्यवस्था मानवीयता पूर्ण सह अस्तित्ववादी चिंतन पर आधारित होगी जिसके लिये जड़ व चैतन्य प्रकृति की क्रियाशीलता का अध्ययन एक अनिवार्य तथ्य है। क्योंकि मनुष्य जड़ व चैतन्य का संयुक्त साकार रूप है।

6. चैतन्य प्रकृति की विशेषता :

क) चैतन्य पद, प्रकृति के विकासक्रम में पाया जाने वाले एक तथ्य है। जड़ प्रकृति का परमाणु ही विकास पूर्वक अथवा गठनपूर्णता पूर्वक चैतन्य पद अथवा जीवन पद को पाता है। फलतः अमरत्व सिद्ध होता है। साथ ही अक्षय शक्ति सम्पन्न होता है। इस प्रकार जीवनता एक अनुस्यूत प्रक्रिया सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन नित्य जन्म-मृत्यु घटना मात्र है। इसी चैतन्य जीवन के क्रम में जीवन का समस्त कार्यक्रम समाया है। जीवन एवं जीवन के कार्य-क्रम के ज्ञापन, प्रकाशन, व्यवहार एवं संस्कार की प्रक्रिया ही संस्कृति या सभ्यता है। अस्तित्वपूर्वक जन्म द्वारा जीवन ही जीवात्मा एवं ज्ञानात्मा के पद या रूप में प्रकाशित है। जीवन की निरन्तरता जन्म घटना का मूल कारण है। जीवन के अभाव में जन्म का होना नहीं पाया जाता है। जीवन पद प्रतिष्ठा परमाणु में गठन पूर्णता से विकसित होती है। गठनपूर्णता का तात्पर्य परमाणु में समाने योग्य सभी अंशों के समा जाने से है यह घटना परमाणु के स्वभाव गति तथा वातावरण के दबाव व देय के योगफल में होती है। प्रत्येक इकाई के लिये स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही उसके विकास की संभावना अत्यंत, सन्निहित या उदित होती है। इसी क्रमिक विकास में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति प्रकट है। जड़ प्रकृति के परमाणु में प्रस्थापन, विस्थापन के साथ रूप और गुणों में परिवर्तन होता है जिसका परिमाणित होना पाया जाता है।

ख) इससे स्पष्ट होता है कि जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है जबकि चैतन्य प्रकृति में केवल गुणात्मक परिवर्तन का क्रम पाया जाता है जिसका परिमाण नहीं होता है जैसे-आशा, विचार एवं संकल्प में परिवर्तन के साथ कोई मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है जो बच्चों से बड़ों तक में देखा जा सकता है। भ्रम का ज्ञान होने एवं उसका सुधार करने का ज्ञान व अधिकार गुणात्मक परिवर्तन है जो मानव के लिये एक सहज संभावना है। इसे मनुष्य के लिये सहज, सुलभ व सार्थक बनाने की दिशा में मनुष्य अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, संयोजन, योजन, संधान एवं अनुसंधान कार्य में रत है। इस क्रम में मनुष्य अस्तित्व प्रतिष्ठा से व्यवहार प्रतिष्ठा तक विधिवत अध्ययन करना चाहता है। विधिवत अध्ययन का तात्पर्य वस्तु स्थिति, वस्तुगत एवं स्थित सत्य में निर्भ्रमता के रूप में स्पष्ट है।

ग) वस्तुस्थिति सत्य - देश, काल एवं दिशा के ज्ञान में चरितार्थ होता है।

घ) वस्तुगत सत्य - रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म के ज्ञान में होता है।

ङ) स्थिति सत्य सत्ता - में सम्पृक्त प्रकृति (अस्तित्व समग्र) के ज्ञान में होता है।

- च) चैतन्य इकाई में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति का प्रकाशन शरीर के द्वारा होता है जिसे प्रत्येक जीव शरीर के द्वारा आशा और मनुष्य शरीर के माध्यम से आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति को देखा जाता है। चैतन्य क्रिया अर्थात् जीवन अक्षय शक्ति सम्पन्न होने के कारण उपभोग से अधिक उत्पादन करने में सक्षम है। इसी सक्षमतावश चैतन्य क्रिया या जीवन में आशा, विचार इच्छा, संकल्प एवं अनुभव शक्तियों का प्रकाशन कितना भी करें उससे चैतन्य क्रिया या जीवन में कोई छरण नहीं होता है। यह उसकी अक्षय शक्ति का प्रधान लक्षण है। चैतन्य इकाई या जीवन की अक्षय शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवनीयता प्रतिष्ठित या प्रकाशित होती है। यही संवेदनशीलता तथा संज्ञानीयता है। इसी प्रतिष्ठावश वातावरणस्थ क्रिया व सत्यता के संकेत ग्रहण व प्रसारण की क्रिया होती है। इस प्रकार चैतन्य क्रिया ही जीवन है और अक्षयता ही इसकी प्रधान विशेषता है।
- छ) उपरोक्त विशेषतावश चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है। चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ यदि मात्रात्मक परिवर्तन होता तब प्रत्येक आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के साथ मात्रात्मक एवं रूपात्मक परिवर्तन भी होता जबकि ऐसा नहीं होता है। इसके विपरीत विचारों के अनुरूप बिना किसी रूपात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन के शरीर का संचालन होता रहता है। चैतन्य के सहयोग से जड़ शरीर जितनी शक्ति ग्रहण करता है उससे कहीं अधिक शक्ति को बहिर्गत करता है। चैतन्य क्रिया अथवा जीवन के अतिरिक्त स्थूल शरीर रासायनिक एवं भौतिक संरचना है। इसके सम्पूर्ण क्रियाकलाप यांत्रिक हैं। यांत्रिकता में जितनी शक्ति ग्रहण होती है उससे कम का प्रकरन होता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जड़ शरीर और चैतन्य क्रिया (जीवन) का संयुक्त साकार रूप है। मानव के संस्कार मात्र का जीवनगत होना अर्थात् आशा, विचार, इच्छा, एवं संकल्प गत होना उसी के आनुषंगिक क्रान्तिकारिता (गुणात्मक विकास) एवं जनवादिता का होना एक वस्तुगत सत्य के रूप में पाया जाता है जिसके आधार पर विकास एवं हास स्पष्ट होता है। मनुष्य का प्रकाशन अमानवीयता, मानवीयता और अतिमानवीयता वादी कार्य, व्यवहार, व्यवसाय, अध्ययन एवं व्यवस्था संबंधी प्रक्रियाओं के रूप में होता है। मनुष्य की स्वभाव गति मानवीय होने के कारण उसकी तुलना में हास एवं विकास का निर्णय हो पाता है।
- ज) नियतिक्रम में विकास का अभाव नहीं है। यह प्रकृति में विधिवता के रूप में दृष्टव्य है। यह विकास विविधता इस पृथ्वी पर चार स्थितियों में अर्थात् पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में परिलक्षित होती है। यही वैविध्यता विकास क्रम प्रक्रिया एवं व्यवस्था को स्पष्ट करती है। इन सब का अध्ययन ही दार्शनिकता है।

7.

1. दार्शनिकता मनुष्य की संवेदनशीलता एवं संज्ञानीयता का अध्ययन एवं प्रकाशन है। यह मनुष्य की अविभाज्य क्षमता है। दर्शनक्षता अस्तित्व में, अस्तित्व से एवं अस्तित्व के लिये समाधान एवं आनन्द के अर्थ में चरितार्थ होती है। अस्तित्व समग्र सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है। प्रकृति का तात्पर्य रूपात्मक अस्तित्व से है। यही अनेक रूप में स्पष्ट है। अनेकरूपता अथवा वैविध्यता मूलतः अध्ययन का विषय है।

अरुपात्मक अस्तित्व समान रूप में अर्थात् सर्वत्र एक सा होना पाया जाता है। सम्पूर्ण गति एवं मात्रा रूपात्मक अस्तित्व की सीमा में दृष्टव्य है। सम्पूर्ण गति व मात्रा अरुपात्मक अस्तित्व में समाहित है। प्रकृति की वृहद से वृहद एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाइयाँ गति व मात्रा रहित अस्तित्व में घिरी हुई हैं जो मध्यस्थ सत्ता, शून्य, ज्ञान, पूर्ण एवं परमात्मा आदि संज्ञा से अभिहित है। मूलतः रूपात्मक एवं अरूपात्मक अस्तित्व ही अस्तित्व समग्र है।

2. अस्तित्व स्वयं में कोई संख्या नहीं है। यह केवल अनंत एवं व्यापक है। कारण गुण एवं गणित से मनुष्य के द्वारा प्रत्येक स्थिति निर्णित होती है जबकि अस्तित्व के संबंध में उसकी विस्तार व्याप्ति सीमाएँ संख्या ग्राह्य न होने के कारण इसे केवल व्यापक एवं अनंत की संज्ञा दी गई है। अस्तित्व कैसा है? यह स्पष्ट होता है। कितना है? यह स्पष्ट नहीं होता। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य में अस्तित्व सर्वस्व की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती है। फलतः उसके लिये प्रयास नहीं होता है। साथ ही मनुष्य के लिये अनुभव से अधिक उदय होता है। अर्थात् अनुभव के आधार पर अधिक का अनुमान होता है। मनुष्य में, मनुष्य से एवं मनुष्य के लिये अनुभव ही प्रमाण परम है। प्रयोग व व्यवहार के मूल में भी अनुभव ही है।
8. रूपात्मक अस्तित्व अनेक इकाइयों का समूह है। प्रत्येक इकाई का विभिन्न स्तरीय विकास अपेक्षाकृत अस्तित्व है। यही स्पष्टतः संख्या एवं संख्या का आधार है। विकास के क्रम में मनुष्य का अस्तित्व भी एक घटना है। प्रत्येक घटना में अपनी विशेषताएं होती हैं। इसी तारतम्य में मनुष्य में अपनी विशेषता के अनुसार अर्थात् ज्ञानावस्था के विकास के अनुरूप पूर्णतया दर्शनक्षमता की संभावना है। इसी के आधार पर अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा का अधिकार मानव में, मानव से, एवं मानव के लिये सुरक्षित है। संभावनाओं को सफल बनाना ही अधिकार है।
9. मानवीयता मनुष्य की स्वभावगति है। स्वभावगति में उसके गुणात्मक परिवर्तन का अधिकार व निरन्तरता स्पष्ट होती है। अग्रिम विकास तब तक होता रहता है जब तक मनुष्य इकाई को सत्ता में अनुभव न हो जाय। यही विकासपूर्णता है। यही समाधान एवं समाधान ही निरन्तरता है। स्वभावगति में हस्तक्षेप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य उत्पन्न होता है, जो आवेशित गति है। आवेशित गति को सामान्य बनाने के लिये वातावरण का दबाव ही अनुशासन, सामान्य गति को बनाये रखना ही शासन एवं उसकी निरन्तरता ही प्रभुसत्ता अथवा प्रबुद्धतापूर्ण सत्ता है। यही निपुणता, कुशलता एवं पांडित्यपूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था है। पांडित्य स्वयं में विधि है जिसके आधार पर नीति, कार्य पद्धति एवं विषय वस्तु का निर्धारण एवं निस्सरण होता है। न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य का ज्ञान ही पांडित्य है। पांडित्य मनुष्य के कार्य व्यवहार, आचरण, अभ्यास एवं विकास का मूल स्रोत एवं लक्ष्य है। कुशलता एवं निपुणता, शिष्टता एवं व्यवसाय के आधार एवं समृद्धि के लक्ष्य है। पांडित्य के अभाव में कुशलता एवं निपुणता की उपयोगिता का ध्रुवीकरण नहीं हो पाता है। निपुणता एवं कुशलता का अधिकार उपयोगिता एवं सुन्दरता मूल्य की सीमा में उपादेयी होता है। पांडित्य में जीवन मूल्य अथवा स्थापित मूल्यानुभव या प्रमाण क्षमता या अधिकार है। प्रमाणिकता स्वतः सुख, शांति, सन्तोष एवं आनन्द है। यही मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवं आत्मा के संबंध में निर्विषमता है। प्रमाणिकता मनुष्य का अधिकार परम है। मानवीयता पूर्ण पद्धति से आचरण व व्यवहार करने

के लिये मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य का मानवीयता पर स्वत्व होता है। स्वत्व, स्वतंत्रता एवं अधिकार का संयुक्त प्रकाशन संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रियता है। जिसका विधि में चरितार्थ होना ही व जनवादिता एवं व्यवस्था में प्रभावशील होना ही क्रान्तिकारिता है। विकास की ओर जीवन की अबाधगति स्वतः क्रान्तिकारिता एवं जनवादिता तथा जन्म की अभयता स्वयं में जनवादिता एवं उत्पादनीयता है। यही राष्ट्रियता की निरन्तरता है।

2. प्राचीन ज्ञान-विज्ञान मध्यस्थ दर्शन, सह-अस्तित्ववाद व जीवन विद्या

आज हम हर एक पहलुओं में पराभव की ओर जा रहे हैं। हम आज जितने सामर्थ्यशाली हैं कल और कम, आज जितने सामाजिक हैं, कल असामाजिक, आज जितनी व्यवस्था है कल और कम व्यवस्था में पाते हैं। आज से कल बदतर की ओर ही चल रहे हैं, अर्थात् यह कहें तो ठीक होगा की मानव सामाजिक रूप में असामाजिक, आर्थिक रूप में विपन्न एवं राजनैतिक स्थिति में अंधकार में चलते चला जा रहा है। राजनैतिक विफलता को द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध के रूप में हम देख पाते हैं। सामाजिक रूप में जो हम देखते हैं वह अनेक जाति, पन्थ और सामाजिक चेतना कट्टरता की तरफ जा रही है। आर्थिक रूप से आज किसी एक को दो के साथ लाने का प्रयास करते हैं तो कल उसे 10 और 2 के अनुपात में पाते हैं। 10 और 2 को एक साथ लाने का प्रयत्न करते हैं तो 100 और दस के अनुपात में हो गया। और आगे बढ़े तो असमानता ही बढ़ी। इसके कारण में पाया गया कि व्यापार चेतना और नौकरी की चेतना मनुष्य को आर्थिक असमानता की ओर दौड़ा रहा है। अनेक जाति, पंथ, सम्प्रदाय मनुष्य को कट्टरता की ओर दौड़ा रहा है। जिससे दिन प्रतिदिन मनुष्य जाति, भय व भ्रांति की ओर जा रहा है।

मेरा मूल उद्देश्य दर्शन को प्रस्तुत करना नहीं था, हमारा देश आज़ाद हुआ, सत्ता हस्तांतरित हुई। सत्ता पर अपने जन बैठे। जन प्रतिनिधि बने। हमारा संविधान राष्ट्र चरित्र क्या है? इसे स्पष्ट नहीं कर पाया, इस मूल तत्व से मुझे चोट लगी, जिज्ञासा जागृत हुई, यह जानने व समझने की कि राष्ट्रीय चरित्र क्या है? अस्तित्व कैसा है? अस्तित्व में मानव कैसा है? मनुष्येत्तर प्रकृति कैसी है? व्यवहार में देखने लगा, एवं जब वाङ्मय रूप देने लगा तो वह मध्यस्थ-दर्शन बन गया, सह-अस्तित्ववाद हो गया। योजना बनने लगी। मेरी संवेदनशीलता कहिए या अनन्त की कृपा कहिए, किसी योग या संयोग से ही किसी तीसरी वस्तु का जन्म होता ही है। अनन्त से हमारा संबंध है ही, इसे बाद में कहूंगा। भारतीय संविधान में राष्ट्रीय चरित्र पहचाना जा सकता है, यह विश्वास उत्पन्न हुआ। एक भाग संक्षिप्त रूप में पूरा हुआ।

दूसरा भाग -

मनुष्य अभी तक दो प्रकार से घूमा - प्रथम तो ईश्वर को बीच में लाया। रहस्यमूलक ईश्वरीय चिंतनज्ञान को हम ज्ञान मानते आये, इसके आधार पर मनुष्य ईश्वर से सब कुछ होने की बात को माना, फलस्वरूप ईश्वर को केन्द्र मान कर हर बातों में हम सत्य को खोजने लगे। इसके लिये अनेकानेक विभूतियां अपने को प्रयोग किये, अर्पित किये, एवं ख्याति भी पाये, जिन्हें हम आदर्श पुरुष मानते हैं। इससे दो प्रकार का चरित्र का जन्म हुआ (जिन्हें आप भी श्रेष्ठ मानते हैं) (1) भक्तिवादी चरित्र (2) विरक्तिवादी चरित्र। ये दोनों ही चरित्र शिक्षा एवं व्यवस्था का आधार या सूत्र नहीं बन पाये। फलस्वरूप ये व्यक्ति के सीमा में ही रह गया या व्यक्ति को जितना भी संसार, लोक, स्वयं श्रेष्ठ माना, इससे कहीं-कहीं तृप्ति मिलती रही। सर्वाधिक प्रयासों के बाद जिन महापुरुषों को हम पहचाने, समझे या माने उनसे हमें शिक्षा और व्यवस्था का कोई सूत्र नहीं मिला, और राष्ट्रीय चरित्र नहीं बन पाया।

मानव अपने-अपने ढंग से प्रयास करता ही रहा, कोई न कोई पंथ, मत, संप्रदाय, जाति भाषा, अपनी श्रेष्ठतानुसार किसी न किसी परम्परा को अपनाये और एक दूसरे के साथ टकराने की जगह में आ गये। टकराने की जगह में रहा विज्ञान, ये इसी को घटा दिया। सभी अपनी-अपनी जगह जीते रहे, शांति पूर्वक भी अशान्ति पूर्वक भी। एक समुदाय दूसरे समुदाय से जब-जब मिला है या संबंध स्थापित करने गया है तो टकराहट ही मिली है। ये सब घटनायें किसी न किसी रूप में इतिहास में प्रकारान्तर से रखा ही है। इसके बाद जब हम दूसरी विधि से पहुँचे तो वस्तु को बीच में लाये, जिसे विज्ञान युग कहा जा सकता है। जिसमें वस्तु को बीच में रख कर मनुष्य को चारों ओर घुमाया गया।

हम आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अति-भोग व बहु-भोग की ओर चल दिये। यह भी सर्वविदित है कि भोग, अति-भोग व बहु-भोग व्यक्तिवादी होते हैं। यह समाज हो नहीं सकता, न समुदाय हो सकता है जब समुदाय ही नहीं तो समाज कहाँ से होगा। ये सारी बातें स्पष्ट रूप में व प्रमाण रूप में सम्मुख रखा हुआ है ही।

अब इन दोनों को मिलाकर या किसी एक को सर्वाधिक ले कर शिक्षा में सम्मिलित कर लिया। अभी शिक्षा में जो सर्वाधिक सम्मिलित है वह है वस्तु केंद्रित ज्ञान। ईश्वर केन्द्रित ज्ञान बहुत न्यूनतम हो चुका है। इस अवस्था में आकर मनुष्य दिग्भ्रमित, दिशाहीन एवं अनिश्चयता से कुंठित पाया जा रहा है।

इन सबको देखने के बाद मैं जो लाया वह है अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान- इसके अनुसार जीवन अपने आप में स्पष्ट होती है। जीवन जब स्पष्ट हो सकता है तो मनुष्य, जीव, वनस्पति व खनिज भी स्पष्ट हो ही सकता है। खनिज संसार की अपनी ही प्रतिष्ठा है। खनिज और वनस्पति एक आवर्तनशील पद्धति से अपने को वैभवित किये हुये हैं। इसी भांति मनुष्य का अन्य प्रकृति के साथ आवर्तनशील पद्धति वैभवित होना एक सहज क्रिया है।

इस ढंग से मनुष्य जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप में इस धरती पर वैभवित हुआ।

वर्तमान की शिक्षा में शरीर को ही अध्ययन करने का प्रयास किया है फलस्वरूप मनुष्य शरीर को जीवन समझने लगा, शरीर को जीवन समझने से पराभव ही हाथ आया। जीवन क्या है? स्पष्ट करने को ही जीवन-विद्या कहा गया है।

1. रहस्य मूलक ईश्वर केन्द्रित चिंतन ज्ञान
2. अनिश्चयता व अस्थिरता वस्तु केन्द्रित चिंतन ज्ञान

अस्तित्वमूलक मानव-केन्द्रित चिंतन ज्ञान मध्यस्थ दर्शन सह-अस्तित्ववाद इसमें से निःसृत जीवन ज्ञान सहज रूप में मिलता है।

रहस्यमूलक ईश्वर-केन्द्रित ज्ञान और अनिश्चितता अस्थिरतामूलक वस्तु-केन्द्रित चिंतन ज्ञान शिक्षा और व्यवस्था का आधार नहीं हो सकता। इन दोनों को मिलाकर, घटाकर, काटकर या जोड़कर शिक्षा और व्यवस्था का आधार नहीं बनाया जा सकता। किसी गति को आगे बढ़ाना है तो पीछे की गति को ध्यान में रखना ही पड़ेगा, अन्यथा आगे की गति नहीं हो पाती।

एक बात पर विचार करें कि रहस्य की पृष्ठ-भूमि पर हम जो कुछ भी कहेंगे उसके मूल में यदि रहस्य ही है तो क्या स्पष्ट होगा? शिक्षा की वस्तु क्या होगी? शिक्षा का वस्तु, विश्लेषण और प्रयोजन क्या है? बिना इन दोनों के शिक्षा का कोई अर्थ नहीं है। किसी भी वस्तु का आधार जब रहस्य हो जाता है तो उस वस्तु से या रहस्य से कोई हम वाद-विवाद विहीन सूत्र नहीं पा सकते। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति में कल्पनाशीलता और चिंतन-शीलता सहज वर्तमान है, यदि मैं रहस्य और कल्पनाशीलता से कुछ सूत्र निकालता हूँ तो आप दूसरा सूत्र निकाल देंगे, तो विवाद होगा ही। वाद-विवाद का परिणाम हम विगत में भुगत चुके हैं। मेरा निर्णय, अनुभव व ज्ञान यही कहता है कि मनुष्य शिक्षा अथवा व्यवस्था अथवा आचरण अथवा व्यवहार अथवा व्यवसाय के आधार पर जो भी सूत्र निकालेगा वह अस्तित्व के आधार पर होगा। अस्तित्व में जो है नहीं उसका कोई आधार नहीं है। उसका कोई सूत्र भी नहीं है।

3. सही बात को समझना

(*यह लेख नागराजजी के कथन का श्रोता द्वारा प्रतिलेखन है)

मनुष्य को हमेशा सही बात को समझनी चाहिए। ऐसे चाहत सर्वमानव में विद्यमान है। अगर वह गलत समझेगा तो वह हर मोड़ पर अथवा हर स्थिति पर गलती ही करेगा। जिस तरह एक गणित जब तक सही बात नहीं समझ लेता अथवा अंकित करने का सही तरीका नहीं अपना ले, वह हर अंक गलत ही करेगा। गलत तरीके का उपयोग कर के कोई गणित किसी भी अंक का सही उत्तर नहीं निकाल सकता है।

परन्तु यह सिर्फ गणित का ही प्रश्न नहीं, किसी भी कलाकार, व्यापारी, वकील अथवा गुणी ब्राह्मण के लिये भी यही सिद्धांत लागू होता है। हर मनुष्य एवं व्यक्ति के लिए यह लागू होता है। इस सिद्धांत के लिये कोई नियमित आयु सीमा भी नहीं। चार वर्ष का बालक भी यदि सही तरह से शब्दों का उच्चारण करना नहीं जानता है तो वह उस भाषा की बोली सीख ही नहीं सकता। इस तरह यदि कोई साधु या तपस्वी अपने आप को सही तरह से पूजा-पाठ में लीन नहीं कर सकता वह कभी ईश्वर को प्राप्त कर ही नहीं सकता।

मेरे अनुसार सिर्फ मनुष्य तक ही इस सिद्धांत को नियमित नहीं किया जा सकता। क्या कोई शेर जंगल का राजा होते हुए भी अन्य जानवरों का शिकार कर सकता है यदि वह ऐसा करने का सही तरीका नहीं जानता हो ? अतः सिर्फ मनुष्य ही नहीं हर तरह के पशु-पक्षी, जन्तु-जानवर भी इस तरह के सिद्धांत को अपने साथ लेकर चलते हैं। एक पक्षी यदि अपना घोंसला नहीं बना सकता है तो वह ठण्ड एवं बरसात के मौसम में जी ही नहीं सकता।

एक और बात है। यदि कोई विद्यार्थी अपने पाठ का अध्ययन सही तरह से नहीं समझ लेता वह परीक्षा में पास हो ही नहीं सकता। परन्तु यदि वह एक बार सही पाठ अपने दिमाग अपने दिमाग में जड़ से बैठा ले तो उसका फेल होना असम्भव है। अथवा जीवन में इस बात की यह महता है कि जब तक व्यक्ति सही चीज नहीं जान लेता, वह गलती करता ही रहेगा। जब तक कि उसके मन में सही बात नहीं आ जाती। अतः हर काम करने के लिए ऐसा करने का सही तरीका जानना महत्वपूर्ण ही नहीं आवश्यक है, जरूरी है।

सही की पहचान

सही चीज को पहचानना भी आवश्यक है। दो और दो चार होता है। तीन और एक भी चार होता है। यदि यह दोनों अंक आपस में जोड़े जाएं तो चार के अलावा और कुछ परिणाम नहीं मिल सकता। इनके अलावा और कोई अंक जोड़कर भी हम सही अंक प्राप्त नहीं कर सकते। यानी "चार (सही) प्राप्त करने के लिये सिर्फ दो ही Formulae सही हैं। एक-तीन और दो-दो। यह ठीक formulae हैं अर्थात् यह हमेशा सही यानी चार (४) ही देंगे। यह मनुष्य के जीवन में भी जरूरी बात है न केवल गणितज्ञ के विषय। अर्थात् सही बात को पहचानना अथवा उसे अपने जीवन में प्रयोग करना जरूरी है।

सुख के लिए केवल सुविधा पर्याप्त नहीं

मनुष्य को अपने पेट भरने के लिये रोजी कमाना पड़ती है। इस कारण वह व्यापार करता है या किसी के यहाँ नौकरी करता है। ऐसा करने से मनुष्य को जो दौलत प्राप्त होता है उसे वह इकट्ठा करता है। उसका संग्रह करता है। वह ऐसा इसलिये करता है ताकि वह इस कमाये गये दौलत का उपयोग कर सके। उपयोग भी उस तरह करें जिससे हम सुविधायें पा सकें। सुविधाओं के माध्यम से हमें सुख का कामना का होना स्पष्ट अनुभव होता है। मगर क्या मनुष्य इन सुविधाओं से सुख का अनुभव चिर-काल के लिये कर सकता है? निरंतर?

यदि एक व्यक्ति दस कमा लेता है तो उसे बीस कमाने की इच्छा होती है। जब वह बीस कमा लेता है तो सौ कमाने की इच्छा होती है। जब हजार कमा लेता है तो लाखों की और जब करोड़ कमा लेता है तो अरबों कमाने को उसका जी करता है। अतः मनुष्य की कामनाओं की कोई सीमा नहीं होती। संग्रह करके सुविधा उपलब्ध कर पाने की तृप्ति कभी उसे होती ही नहीं। अथवा मनुष्य कभी सुखी हो ही नहीं सकता।

स्वयं में विश्वास

मनुष्य एक तरह का जीव होता है, प्राणी होता है। लड़का.. लड़की... इनमें केवल शरीर ही नहीं और भी कुछ होता है। जैसे शरीर है शरीर के अनेक अंश हैं। ऐसा कहा जाता है कि दिमाग “memory” का “store house” है। सर्जरी से पता चलता है कि समस्त “brain” में ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ ज्ञान या बुद्धि “store” किया जा सके।

तो प्रश्न यह उठता है कि दिमाग काम कैसे करता है? अर्थात् “Storage” कहाँ होता है? अगर यही जीवन है, प्राण है तो यह चीज क्या है? यह परमाणु है। परमाणु का मतलब होता है “atom” “A constitutionally Saturated atom” is जीवन या प्राण कोश। यह प्राण कोश संप्राणित भी हो सकता है अथवा निष्प्राणित भी। जो प्राण कोश साँस ले रहे होते हैं उन्हें संप्राणित कहते हैं। जो प्राण कोश साँस नहीं ले सकते हैं अथवा मृत हो जाते हैं उन्हें निष्प्राणित प्राण कोश कहा जाता है।

अर्थात् वह यह जीवन ही है जो सोचने का काम करता है और जिसके हमारे शरीर को छोड़कर चले जाने से कोई हमारे निर्जीव शरीर को आश्रय भी नहीं देता। इस कारण जीवन बहुत ही महत्वपूर्ण है और हमारे लिए इसे पहचानना भी अतिआवश्यक है।

श्रेष्ठता का सम्मान

हम जिस समाज में रहते हैं उसमें अनेक प्रकार के लोग हमारे साथ निवास करते हैं। इनमें से कुछ लोग ज्ञान के क्षेत्र में हम से ज्यादा ज्ञानार्जन कर चुके होते हैं। ऐसे लोगों के प्रति जिनका ज्ञान हमारे से ज्यादा होता है उनके प्रति हमारे मन में सम्मान उत्पन्न होते हैं एवं हम उनका सम्मान करते हैं।

परन्तु ऐसे लोगों की पहचान कैसे की जा सकती है? यदि कोई आदमी अपनी डिग्रियों के बारे में बताये और प्रमाण दें तो क्या इस विचार से हम उन व्यक्तियों का सम्मान करना प्रारम्भ करते हैं? नहीं। किसी के ज्ञान का अंदाजा लगाना अथवा इस कारण पर उनका सम्मान कर पाने के लिए उनके साथ जीना अतिआवश्यक है। ताकि हम उनकी महानता को पहचान सकें। इस कारण हम व्यवस्था में रहते हैं। व्यवस्थायें कई प्रकार के होते हैं: परिवार व्यवस्था, ग्राम

व्यवस्था, जिला व्यवस्था, प्रदेश व्यवस्था एवं देश व्यवस्था। सब से छोटा है परिवार व्यवस्था। परिवार व्यवस्था में हम अपने माता-पिता, भाई-बहन के साथ रहते हैं। इस से हम तीन चीज सीखते हैं :

1. आहार (खाद्य).
2. व्यवहार (बर्ताव)
3. विहार

इसका मतलब है एक दूसरे के प्रति मनोभाव | परिवार में रहते हुए हम एक दूसरे के साथ खेलते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, बातें करते हैं तो एक दूसरे के प्रति अपने मनोभाव प्रकट करते हैं। भविष्य में इसी से सम्मान बन आता है।

परन्तु हमें सिर्फ परिवार व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। हमें ग्राम, जिला एवं देश के स्तर पर भी विकास की जो योजनाएँ बनाई जा रही हैं उसमें अपना पूरा योगदान देना चाहिये। इस तरह व्यवस्था में रहने से हमारी प्रतिभा और व्यक्तित्व दोनों ही फूलते-फलते हैं।

आहार

हर जीव का अपना एक निश्चित आहार होता है। जैसे झाड़-पत्तों के, गाय के लिए घास-फूस, शेर-बाघ जैसे मांसाहारी जानवरों के लिये अन्य छोटे जानवरों की हत्या की जाती है।

मनुष्य ने विज्ञान के विषय में बहुत प्रगति किया है, विकासशील हुए हैं। अपने देश को उन्नति के मोड़ पर चढ़ाया है। परन्तु अपना आहार अभी तक कोई decide नहीं कर पाए हैं। कोई शाकाहारी है तो कोई मांसाहारी।

तो यह देखना चाहिये कि मनुष्य/मानव की शरीर रचना कैसी है? इसके लिये पहले हमें मांसाहारी एवं शाकाहारी जानवरों के बीच में अन्तरों का अध्ययन कर लेना चाहिये। मांसाहारी जीवों के दाँत एवं नाखून लम्बे और नुकीले होते हैं ताकि वे मांस को तान-काट सके।

शाकाहारी जीवों के दाँत - नाखून ऐसे नहीं होते। मांसाहारी जीव हमेशा जीभ से पानी पीते हैं (e.g. कुत्ता)। शाकाहारी जीव होठों से पानी पीते हैं। मांसाहारी जीवों के आंत छोटी होती है, शाकाहारी जीवों की आंत बड़ी होती है।

अध्ययन किये जाने पर समझा गया है कि मनुष्य में सारे शाकाहारी गुण हैं जहां तक शरीर रचना का सवाल है। मनुष्य के दाँत नाखून लम्बे नहीं होते, आंत बड़ी होती है और वह होठ से पानी पीते हैं। इस कारण साधारणतः मनुष्य को शाकाहारी होना चाहिए। परन्तु मनुष्य अभी तक इसका निर्णय नहीं कर पाया है।

वैसे देखा जाये तो मनुष्य जितना भी अपने आप को अहिंसा के पथ पर कहे, मांसाहारी मनुष्य हिंसा करता है क्योंकि उसके भोजन के लिये अन्य जीवों की हत्या की जाती है। अतः मांसाहारी मनुष्य हिंसा का द्योतक है।

व्यवहार

परिवार व्यवस्था में रहने के साथ-साथ हम एक दूसरे के भावों और व्यक्तित्वों को समझते हैं और उनसे जैसे बर्ताव एवं व्यवहार करते हैं। हम सब एक साथ त्यौहार मनाते हैं और एक दूसरे को वस्तुएँ आदि समर्पण एवं अर्पण करते हैं। समर्पण और अर्पण में अंतर होता है। समर्पण करना उस भेंट को कहते हैं जो हम वापस नहीं चाहते। जो हम एक साथ मनाये गये पर्व, त्यौहार में करते हैं। समर्पण करने के भाव भी शुद्ध एवं स्पष्ट होने चाहिये। सिर्फ देने का एक नियम इसलिये नहीं। बल्कि पूरे दिल से देना चाहिये।

मानव

1. मानव जीवन एवं जीवनी-क्रम

मनुष्य का जीवन मानवीयता की सीमा जीवनमूलक पद्धति से आरंभ होता है, चिंतन-समुच्चय भौतिक विचारधारा पर आधारित हो या आध्यात्मिक विचारधारा पर, इस बात को स्पष्ट करने में उत्साह यह प्रकट होता है कि मानव में एक मानवीयता की निश्चित, स्पष्ट एवं अपरिहार्य सीमा को उभारने हेतु सभी सुहृद एवं आपस पुरुषों का साम्य प्रयास पाया जाता है। इस विषय में उनके द्वारा किया गया यह अथक प्रयास इतिहास के अवलोकन में भी सिद्ध होता है। अब तक उसे प्राप्त करने में हम असमर्थ रहे हैं, फिर भी पाने के लिए प्रत्याशी एवं प्रयासोन्मुख हैं। इस मौलिक बिंदु के संदर्भ में शिक्षा प्रदान करने के लिए मध्यस्थ दर्शन अपने में परिपूर्ण होकर लोक सम्मुख उपस्थित हुआ है, जो 4 भागों में प्रणीत है : यथा

1. मानव व्यवहार दर्शन
2. मानव कर्म दर्शन
3. मानव अभ्यास दर्शन
4. मानव अनुभव दर्शन।

मध्यस्थ दर्शन समग्रता, विकास व व्यवहार के प्रति किसी रहस्य द्वंद्व संघर्ष चेतना को मनुष्य के अविकसित चेतना निरूपित करता है साथ ही मानव को गुणात्मक विकास क्रम में मानवीयता पूर्ण संचेतना में संक्रमित होने का निश्चित पद्धति को सुलभ किया है। द्वंद्व को अनुभव व्यवहार में व समाधान में अध्ययन संस्कार सुलभ करने का पाठ और किसी रहस्य को रहने नहीं देता और साथ ही समग्र के संबंध में यह बताता है कि सत्ता व्यापक है तथा इसमें ही समग्र प्रकृति समाई हुई है, फलतः प्रकृति ऊर्जामय है।

इसलिए प्रकृति प्रत्येक स्तर में क्रियाशील सिद्ध हुई है, चाहे वह बड़े से बड़े गृह गोलादि हो अथवा छोटे से छोटा अणु परमाणु या अंश ही क्यों ना हो। यही वस्तुगत सत्य है। इस सत्यता से चेतना से पदार्थ या पदार्थ से चेतना को निष्पन्न कराने का कष्ट दूर हो गया है। मध्यस्थ दर्शन प्रकृति को जड़ और चैतन्य दो भागों में स्पष्ट करता है। जड़ प्रकृति पदार्थावस्था एवं प्राणावस्था में तथा चैतन्य प्रकृति जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में दृष्टव्य है। ज्ञानावस्था के मनुष्य को परिभाषित करते हुए मानव जनजाति को आत्मनिरीक्षण करने के लिए बाध्य किया गया है। “मनाकार को साकार करने एवं मनः स्वस्थता के आशावादी” को मानव संज्ञा दी गई है। हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आशा, इच्छा एवं विचारानुरूप ही प्राकृतिक ऐश्वर्य पर उपयोगिता एवं कला की प्रस्थापना करता है। यही मनाकार को साकार करने का तात्पर्य है। प्रत्येक मनुष्य सुखी होना चाहता है, सुख, शांति, संतोष एवं आनंदित होना चाहता है, जो निर्विवाद सत्य है। यही मनः स्वस्थता के आशावादी का अर्थ है।

इस प्रकार मनाकार को साकार करता हुआ, मनः स्वस्थता का आशावादी ओतप्रोत मानव जाति को असंदिग्ध रूप में देखा जा रहा है। इसमें मार्मिक बिंदु यही है की उपरोक्त विवेचन के अभाववश न्याय का ध्रुवीकरण आज तक नहीं हो पाया।

मध्यस्थ दर्शन ने न्याय कि ध्रुवीकरण में यह घोषणा की है, की मानवीयता की अभिव्यक्ति जो शिष्टता के रूप में प्रकाशित होता है जिसके निर्वाह मानवीय सम्बन्ध मूल्यों पर आधारित है। नीति से समाज में, विश्व में शान्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय में सामंजस्य संभव बनाया जा सकता है। इस स्थिति में मध्यस्थ दर्शन एक मार्गदर्शक के रूप में उपलब्ध है। यह उपलब्धि मानव में पाई जाने वाली चिरकालीन वांछा, आकांक्षा एवं पूर्ण तृप्ति की पूर्ति के लिए परिपूर्ण एवं परिहार्य है।

मध्यस्थ दर्शन में प्रकृति में पाई जाने वाले क्रिया एवं जीवन के संबंध में पदार्थावस्था को अस्तित्व सहित संघर्षात्मक जीवन तथा प्राणावस्था को अस्तित्व संघर्ष सहित पुष्ट्यात्मक प्रक्रिया में रत जीवन बताया है। जीवन मात्र को आशावादी जीवन के स्वरूप में स्पष्ट करते हुए उसकी सत्यता को जीवन की आशा से सम्पन्न बताया है। मनुष्य को बुद्धिजीवी बताते हुए बौद्धिकता की सत्यता को दो परिप्रेक्ष्यों में स्पष्ट किया गया है- 1) विज्ञान और 2) विवेक। मध्यस्थ दर्शन ने बौद्धिकता की परिपूर्णता को विवेक और विज्ञान की सीमा में निपुणता, कुशलता एवं पाण्डित्य के समग्रता को बताया है, और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि विवेक के बिना विज्ञान, विज्ञान के बिना विवेक जीवन की अपूर्णता के द्योतक हैं। मानव की बौद्धिकता को पूर्णतया चैतन्य पक्ष की क्षमता, योग्यता एवं पात्रता बताते हुए प्रमाणों सहित यह बताया गया है कि रासायनिक सीमा के अतिरिक्त यह सीमा गठन की पूर्णता के अनंतर विकासपूर्वक पाई गई एक अर्हता है। इससे स्पष्ट हो जाता है की मनुष्य बुद्धिजीवी है, ना कि रासायनिक। इस स्पष्ट तथ्य को सर्व सुलभ करने की व्यवस्था मध्यस्थ दर्शन ने कर दी है।

मानव जीवनीक्रम के संदर्भ में मध्यस्थ दर्शन ने इस वस्तुगत सत्यता को उद्घाटित किया है कि मनुष्य के जितने भी संबंध एवं संपर्क हैं, उन सभी की परस्परता में स्थापित मूल्य हैं, जो स्थिति है। उसका यह उद्घोष राजनैतिक एवं धर्म नैतिक पक्षों एवं पक्षधरों का ध्यान आकर्षित करता है और मानवीयता की सीमा में “मानव जाति एक, कर्म अनेक” की सुदृढ़ स्थिति को पाने की संभावना प्रकट करता है एवं उसके लिए आवश्यकीय परिपूर्ण शिक्षा प्रदान करता है। मनुष्य में पाएजाने वाले चारों आयाम तथा मनुष्य की पाँचों स्थितियाँ (व्यक्ति, परिवार, समाज शासन एवं अंतर्राष्ट्र) के जीवनीक्रम में मध्यस्थ जीवनीक्रम की स्पष्टता को उद्घाटित करता है।

अब तक हम मनुष्य की परस्परता में स्थापित मूल्यों और उसकी स्थिरता के संबंध में एक रहस्यता अथवा वैविध्यता को अनिवार्य या अपरिहार्य सम्म समझते आये हैं, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि मानव जन अनेक जातियों में विघटित पाए जा रहे हैं, फलतः हम युद्धोन्मुखी हो गए हैं। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र एवं देश युद्ध शक्ति का संचय करने में विवश हो गया है। इसका मूल कारण मनुष्य के परस्पर संबंधों में निहित स्थापित मूल्यों की अशिष्टता ही है। सुदूर विगत के अथक प्रयासों की यह असफलता स्वयं में स्पष्ट है, जो अनेक खंडों में बंटी हुई है। इससे मुक्ति पाने के हेतु मध्यस्थ दर्शन सप्रमाण घोषणा करता है कि “मानव जाति एक कर्म अनेक”, “मानव धर्म एक मत अनेक”, “भूमि एक राष्ट्र अनेक” तथा “ईश्वर एक देवता अनेक” है। इन मूल अवधारणाओं के सुदृढ़ आधार पर ही मानव अपने

जीवन क्रम को स्वस्थ, समृद्ध और समाधानपूर्ण बना सकता है, जिसकी अनिवार्यता संभावना एवं प्रक्रिया को मध्यस्थ दर्शन व्यक्त करता है। खंड समाज में कभी भी अव्यवधानपूर्ण जीवनीक्रम को पाने की संभावना नहीं है। यद्यपि यह सर्वविदित तथ्य है ही, फिर भी दर्शन में इसके लिए समुचित पुष्टियाँ दी गई हैं। मध्यस्थ दर्शन ने जीवनी-क्रम के संदर्भ में मर्म स्थलों में छुपे हुए उस वस्तुगत सत्य को स्पष्ट किया है जो मानव मात्र के लिए साम्य रूप में प्रभावशील हैं और इस परिप्रेक्ष्य में जिस मूलभूत सिद्धांत को प्रस्थापित किया है वह है “मानव सही में एक गलती में अनेक है” यह समग्र मानव को सचेत करने वाला तथ्य है। हम हर समय एवं हर स्तर में देखते हैं कि गलती चाहे एक करे या सभी, सही प्रक्रिया से जो उपलब्धियाँ प्राप्त होनी हैं उसे प्राप्त करना संभव नहीं होता – जैसे एक गणित के प्रश्न को हल करने पर सही उत्तर एक ही होता है परंतु गलत उत्तर अनेक होते हैं। यह प्रत्यक्ष उदाहरण मानव जाति के वांछित तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। मध्यस्थ दर्शन मनुष्य के जीवनी-क्रम के संदर्भ में विकास की ओर गतिशीलता को इंगित करता है तथा अमानवीयतापूर्ण जीवन से ग्रसित जन जाति को सह मानवीयतापूर्ण जीवनी-क्रम में अवस्थित करने के प्रस्ताव को भी प्रकट करता है। इसके लिए समुचित शिक्षा प्रणाली, नीति तथा असंदिग्ध विधि एवं व्यवस्था पद्धति का प्रस्ताव दर्शन में स्पष्ट रूप से है।

मध्यस्थ दर्शन ने अमानवीयतापूर्ण जीवन की सीमा में स्वस्थ सामाजिकता को असंभव बताया है। असामाजिकता स्वयं में ही अन्याय एवं गलतियों का परिणाम है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के अपने जीवनी-क्रम के संबंध में अशांत रहने, मानवीयता पूर्ण आचरण न करने, परिवार का सहयोग न पाने, समाज का प्रोत्साहन उपलब्ध न होने, शासन द्वारा संरक्षण एवं संवर्धन न पाने एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ के अनुकूल न रहने से ही मानवीयतापूर्ण जीवनी-क्रम की स्थापना एवं उसकी अक्षुण्णता बनाये रखना संभव नहीं हुआ है। अस्तु मध्यस्थ दर्शन ने मानवीयतापूर्ण सुदृढ़ आधार पर जिस जीवनी-क्रम को स्पष्ट किया है उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, समाज राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्र के जीवन को स्वस्थ एवं समाधानपूर्ण बनाने के प्रयत्न करने होंगे – चाहे आज करें या भविष्य में।

मानव जीवन का कार्यक्रम

मनुष्य अपने जीवन के कार्यक्रम को एक निश्चित रूप प्रदान करने हेतु न जाने कितने समय से प्रयासरत है परंतु वे सारे प्रयास अंततोगत्वा वैविध्यता की सीमा में ही सीमित रह गये जिसके कारण मनुष्य अनेक सीमाओं में खंड रूप में स्थित होकर अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दूसरे मनुष्य के अस्तित्व को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो गया है। इसी परंपरा में मनुष्य परस्पर द्रोह-विद्रोह एवं आतंक से ग्रस्त हो गये, जो प्रत्यक्ष है। इसके फलस्वरूप मनुष्य को परस्पर की वैषम्यता से दिशाहीनता ही हाथ लगी है तथा वह प्रत्येक स्तर पर संतुष्ट हो गया है। यह कितने संताप की बात है कि सब में शुभकामनायें रहते हुए भी कार्यक्रम में शुभानुरूपी न होना उसके युद्धोन्मुखता का प्रधान कारण बन गया है। ऐसी विचित्र दशा में मानव जीवन के सही कार्यक्रम के संदर्भ में मध्यस्थ दर्शन अपनी तात्त्विकता से पूर्ण व्यावहारिक एवं अनिवार्यतम पद्धति को नीतिवाद के रूप में प्रस्तुत करता है, जो मानव मात्र के लिए आवश्यक है।

मनुष्य के समग्र कार्यक्रम को सुनियोजित ढंग से तीन पद्धतियाँ (1) धर्मनैतिक (2) राजनैतिक तथा (3) अर्धनैतिक – में विभाजित करते हुए मध्यस्थ दर्शन यह प्रतिपादित करता है कि धर्मनीति और राजनीति अन्योन्याश्रित है। इस

ठोस वस्तुगत सत्य को उद्धाटित करते हुए यह बताता है कि एक से अधिक एकत्रित मनुष्य समूह ही समाज की संज्ञा पाता है तथा यहीं से वह आवश्यकताओं को महसूस करने लगता है। आवश्यकताओं का महसूस होना ही प्रयोग व व्यवसाय हेतु प्रेरणा है जिसका फल अर्थोपार्जन में परिणीत है। अर्थोपार्जन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ही है कि प्रत्येक इकाई- मनुष्य-प्राप्त अर्थ का सदुपयोग एवं उसकी सुरक्षा चाहता ही है। उस सदुपयोग एवं सुरक्षा के संबंधों में व्यक्तिगत सीमा में दिया गया निर्णय अंततोगत्वा वादग्रस्त हुआ जिसके फलस्वरूप युद्ध हुए। इनसे त्राण पाने के लिए अंत में मानव सिद्धांतों की शरण लेने को बाध्य व विवश हुआ। मध्यस्थ दर्शन ने सिद्धांतों के सार्वभौमिक होने का दावा किया है और स्पष्ट किया है कि मनुष्य को अपने वाद विवादों से मुक्ति पाने के लिए सिद्धांतों की शरण लेनी ही होगी। अभी तक जितने भी परिप्रेक्ष्यों में सिद्धांतों को प्राप्त कर अपना लिया गया है उनके प्रति कोई वाद विवाद दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। इस प्रत्यक्ष उपलब्धि को देखते हुए हम अब आशा कर सकते हैं कि अन्य परिप्रेक्ष्यों में भी सिद्धांतों पर आधारित व्यवहारसुलभ प्रक्रियायें प्राप्त हो जाने पर मनुष्य के स्वस्थ एवं आश्वस्त होने की संभावना है।

2. मानव में सत्य की खोज क्यों?

23-4-1995, भिलाई

सत्य शब्द की गूँज अनादि काल से मानव सुनते आ रहा है। हर प्रकार के समुदाय में सत्य का नाम लेता हुआ मानव को पाते हैं। उल्लेखनीय बात यही है। आज भी सत्य, खोज की ही वस्तु बनकर रह गया है। दूसरा उल्लेखनीय तथ्य को बिना समझे, सत्य सहज महिमा के प्रति बहुत सारा कल्पनाओं को प्रस्तुत करते हैं। यह भी इस देश-धरती में देखने को मिलती है। सत्य सहज जितने भी कल्पनाएँ आज तक हुई हैं, उसके मूल में बाधा के रूप में, अपेक्षा के रूप में, कामना के रूप में विविध स्वीकृतियाँ यही हैं। सत्य एक बहुत बड़ी चीज है। सत्य की तुलना में उतनी बड़ी चीज और कुछ नहीं है। उसे पाकर हम सदा-सदा के लिए सुखी हो जाते हैं, ऐसी कामनायें हैं।

मानव सहज रूप में ही सुखी होने का इच्छुक और प्रयासशील है ही। जितने भी प्रकार से मानव ने सुख के क्षणों को देखा है, दूसरे विधि से जिन क्षणों को मानव ने सुख के रूप में स्वीकारा, वह सदा ही क्षणिक रूप में होकर ओझल होता ही रहा है। इसे और स्पष्ट रूप में देखा जाए तो हमने मानव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेंद्रियों द्वारा अनुकूल परिस्थितियों में सुख के क्षणों और घटनाओं को स्वीकारा है वह ओझल होता ही रहा है। यह तो हर मानव अपने में प्रकारान्तर से देखता ही है और अधिकांश मनुष्य सत्यापित करता है। इसको आप हम सब जानते हैं। मानव ने सुख को तलाशने के क्रम में विचार, इच्छा, चिंतन, बोध विधियों से भी सुख और उसकी अक्षुण्णता को अपेक्षा के रूप में कई ग्रंथों में, दूसरी विधि से सभी प्रकार के धर्म ग्रंथों में अभ्यास परंपराओं ने उल्लेखित किया है। यथा योगाभ्यास, प्रार्थना, पूजा, यज्ञ, दान, तप सभी अभ्यासों से सुख और उसकी अक्षुण्णता को पाने का कार्य सदा-सदा ही किया है।

इन विधियों से सदा-सदा के लिए सुख पाया हुआ व्यक्ति प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाया, दूसरा सत्यापित नहीं हो पाया। इसी के पक्ष में यह भी मान्यता रही है – सत्य की खोज जो करता है, जब वह पा लेता है, उसके बाद गुड़ खाया हुआ गूंगा के रूप में अवाक हो जाता है ऐसा भी उल्लेख है। एक ही हाथी को कई अंधों ने उसके अंग-अवयवों को छूकर उसी आकार में सत्य को बताने की प्रक्रिया भी किया है, प्रयास भी किया है। इसीलिए किसी एक व्यक्ति के द्वारा उद्धाटित सत्यापित नहीं हो सकता। इन्हीं मानसिकता के साथ संतुष्टि लगाते लगाते सुदूर विगत से बार बार सत्य की खोज करने में प्रकृत होते हुए पीढ़ी से पीढ़ी गुजरता हुआ आया है। आज भी यह देखने को मिलता है कि बहुत सारा लोग, बहुत सारे प्रतिभाशाली लोग पहले कहे गए उपायों को अपनाते हुए सत्य की खोज करता हुआ दिखाई पड़ता है। वर्तमान में जो सत्य को खोजने के लिए उपायों को अपनाये हैं उनको कोई समुदाय या बहुत सारे लोग अपने ढंग से मूल्यांकन करते हैं। अधिकांश रूप में सम्मान भी करते हैं। ऐसी सम्मान ही मूलतः उपलब्धि का प्रमाण मानी गई है। चाहे सत्य खोजपूर्वक हाथ लग गया हो, न लग गया हो, इस बात का मूल्यांकन करना हर मनुष्य का पहुँच नहीं हो पाती है। इसलिए साधना करता हुआ आदमी को सम्मान करने वालों का तादात अथवा भीड़ के साथ ही किसी का मूल्यांकन होता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि केवल भीड़ को देख कर के प्रमाण मान लेना चाहिए या व्यक्ति के सत्यापन पर भरोसा कर जाँचना चाहिए? इस मुद्दे को संवाद रूप में देखने पर पता चलता है – सत्यापन के आधार

पर जाँचना चाहिए। जांच में सकारात्मक बात निकलती है, उस स्थिति में हर व्यक्ति अभ्यासपूर्वक सत्य सहज सुख और उसकी अक्षुण्णता को पाना स्वाभाविक हो जाता है। इसी आशय से हर उपलब्धि सम्पन्न व्यक्ति को जाँचने की विधि बनती है। जैसा – कोई भी साधना करने से, यह जिज्ञासा करने का हर व्यक्ति को अधिकार है कि क्या आप सत्य को समझ गए हैं? यदि समझें हैं उस स्थिति में मुझे आप समझाएंगे क्या? मुझे समझाने में क्या-क्या शर्तें होंगी? इस प्रकार से हम शुरुआत कर सकते हैं। इस विधि से वास्तविक रूप से सत्य को समझ गए हैं, वे स्वयं सत्यापित करेंगे ही। जो सत्यापित करेंगे वे दूसरों को समझाने के लिए तत्पर रहेंगे।

आगे हम अपने को सत्यापित कर रहे हैं कि हम जीवन विद्या परिवार में जितने भी प्रमाणित हो चुके हैं, सत्य को हम समझ चुके हैं और किसी को भी हम अध्ययन पूर्वक बोध करा सकते हैं। दूसरी विधि से हम समझ चुके हैं आपको समझा सकते हैं। मानव में समझदारी ही वस्तु है जो मानव में अक्षुण्ण रूप में रहता है। समझदारी केवल सत्य में, से, के लिए ही है। इसी स्वरूप में हम अस्तित्व रूपी परम सत्य को समझ चुके हैं। हमारे समझने का फल ही है – समझाने की आकांक्षा और प्रयास। इस प्रकार हम जीवन विद्या परिवार स्पष्ट रूप में समझा हुआ को समझाने और किया हुआ को कराने की विधि से सत्य का लोकव्यापीकरण कार्य में कटिबद्ध हैं।

सत्य अपने स्वरूप में नित्य वर्तमान ही है इसे हम अस्तित्व कह रहे हैं। मानव से अतिरिक्त जीव प्रकृति, अन्न-वनस्पति और खनिज प्रकृति ये सब अस्तित्व में वैभूत हैं। यह धरती समग्र अस्तित्व के अंगभूत इकाई के रूप में है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यही है – इस धरती में चारों अवस्था में ‘अस्तित्व’ ही प्रकाशमान है। मूलतः प्रकृति जड़-चैतन्य रूप में होना देखा गया है। जीवन को हम चैतन्य प्रकृति कह रहे हैं। रासायनिक-भौतिक सम्पूर्ण वस्तुओं को जड़ प्रकृति कह रहे हैं। इन्हीं रासायनिक भौतिक वस्तुओं से रचित प्रत्येक मनुष्य शरीर और जीव-शरीरों के रूप में दृष्टव्य है। जीवन ही समृद्ध मेधस सम्पन्न जीव शरीर और समृद्ध पूर्ण मेधस सम्पन्न मानव शरीर को संचालित करता है। आप हम आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रामाणिकता पूर्वक जो कुछ भी समझते हैं, सोचते हैं और करते हैं, ये सब जागृत जीवन का द्योतक है। जीवन जब तक भ्रमित रहेगा तब तक सत्य बोध और अनुभव से वंचित रहना पाया जाता है। जागृति का फलन ही है – सत्य सहज सत्य को समझने और उसको निरंतर उद्घाटित करने का कार्यक्रम।

‘अस्तित्व’ सहज रूप में ही मानव को हृदयंगम होने की वस्तु है क्योंकि अस्तित्व में मानव अविभाज्य है। हर मनुष्य कम से कम स्वयं के अस्तित्व को स्वीकारता ही है। इसी आधार पर सम्पूर्ण ‘अस्तित्व’ को स्वीकारने योग्य योग्यतापर्यंत जागृति क्रम सूत्रित है। जागृति को प्रत्येक मनुष्य में होने वाले सत्य, जानने मानने पहचानने निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होना पाया जाता है। यही हर व्यक्ति का स्वरूप है। इसी समझदारी के अधिकार से ही हर आयाम, कोण, दिशा परिप्रेक्ष्यों में अपने दायित्वों-कर्तव्यों को निर्वाह करना स्वयं स्फूर्त होता है। इसके प्रमाण में हर व्यक्ति स्वायत्त मानव और परिवार मानव के रूप में प्रमाणित होना पाया जाता है। इस विधि से हम अनादिकाल से आंशित सार्वभौम व्यवस्था और अखंड समाज में हम मानव नियंत्रित संतुलित और सुरक्षित हो सकते हैं, इसकी अक्षुण्णता हो सकती है।

3. बुद्धिजीवी मानव के प्रति प्रार्थना

भूमिस्वर्गताम् यातु मनुष्यो यातु देवताम् ।

धर्मो सफलताम् यातु, नित्यं यातु शुभोदयम् ॥

'परमात्म-स्मरण'

सम्प्रति चतुर्दिक व्याप्त घोर आर्थिक संकट, खाद्यान्न की भीषण परिस्थिति एवं चारित्रिक दुर्बलता को देखकर आपको पत्र लिखने की मुझे प्रेरणा मिलती है।

देश की आर्थिक, नैतिक एवं वैज्ञानिक शक्ति का हास एवं विकास शासन की नीति-भेद पर निर्भर करता है। शासन-नीति के विकासोन्मुख होने से ही वैयक्तिक एवं सामाजिक धीरता, वीरता एवं उदारता का बाहुल्य होता है, जिसके फलस्वरूप एक से अनेक तक स्वर्गीयता का अनुभव करते हैं। ऐसी अनुभूति की प्राप्ति के लिये शासन-नीति को चरित्र-बल एवं अध्ययन को प्राथमिकता देनी चाहिये। उसके विपरीत नीति का अनुसरण करने से वैयक्तिक एवं सामाजिक धीरता, वीरता एवं उदारता का हास होना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए ऐसा देखने में आ रहा है कि शासन केवल बहुमत, जातिवाद एवं वर्गवाद के ही कारण सफल नहीं हो सका है। और देश में वैयक्तिक तथा सामाजिक स्तर पर अस्थिरता द्रुतगति से बढ़ती जा रही है।

न्याय से पद, उदारता से धन, दया से बल, चरित्र से रूप, लक्ष्य से अध्ययन, निष्ठा से कर्तव्य, संतोष से तप तथा स्नेह से लोक का आचार करने से ही स्वर्गीयता का अनुभव सम्भव है, अन्यथा क्लेशोदय अनिवार्य है।

नियम ही न्याय, न्याय ही विज्ञान, विज्ञान ही विधान, विधान ही शासन तथा शासन ही नियम है।

वैज्ञानिक विकास के लिये निष्ठापूर्वक बौद्धिक नियमों का पालन आवश्यक होता है।

प्राकृतिक नियमों के पालन से ऋतु सन्तुलित होती है।

कर्तव्य पूर्ण असंग्रह, प्रेम, निराभिमान, विकासोन्मुख शिक्षा और यथार्थ ज्ञान ही वह बौद्धिक नियम है, जिनसे वैज्ञानिक विकास होता है।

पर-धन, पर-नारी एवं पर-पीड़ा से मुक्त व्यवहार ही वह मूल सांस्कृतिक नियम है, जिसके परिपालन से चरित्र की उपलब्धि होती है।

प्राकृतिक सम्पत्ति का उत्पादन के अनुपात में ही व्यय तथा उनके उत्पादन में विघ्न न डालना ही प्राकृतिक नियम है, जिसके कार्यान्वयन से प्राकृतिक सन्तुलन रहता है और ऋतु सन्तुलित होकर उक्त मार्ग प्रशस्त करती है तथा प्राकृतिक कोप नष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त बताये अनुसार बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक नियमों के परिपालन से ही वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में स्वर्गीयता का प्रादुर्भाव सम्भव है, ऐसा मेरा मत है।

अवकाश से अधिक आवश्यकता एवं प्राप्त-पद के उत्तरदायित्व का तिरस्कार करने से उपरिवर्णित नियमों के उल्लंघन की प्रवृत्तियों का उदय होता है। जो क्रमशः परिवार, समाज तथा राष्ट्र-व्यापी बन कर क्लेश उत्पन्न करता है। आवश्यकता की पूर्ति कभी अभाव अत्याशा तथा अक्षमता के कारण नहीं हुई है।

व्यावहारिक पक्ष में नीतियों का निर्धारण निम्न आधार पर करने से सफल शासन की स्थापना एवं राष्ट्रीय समस्याओं का निराकरण सुलभ हो सकेगा, ऐसी मेरी सम्मति है, जो विचारार्थ प्रस्तुत है-

1. राष्ट्रीय सुरक्षा नीति का निर्धारण व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नीति से समन्वित होना चाहिए।
2. प्रत्येक प्रजा को उनके द्वारा वांछित अथवा शासन द्वारा निर्णीत कर्तव्य हेतु प्रवृत्त करने वाली नीति का कठोरता से पालन करना चाहिए।
3. अकर्मण्यता एवं आलस्य का दमन करना चाहिए, क्योंकि यह अप्रत्यक्ष रूप से एक राष्ट्रीय अपराध है।
4. समस्त कार्यो एवं वस्तुओं का मूल्य राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित करना चाहिए, न कि प्रादेशिक स्तर पर तथा इसी नीति के आधार पर समस्त व्यवसायों, उद्योगों एवं वाणिज्य का एक-सूत्रीकरण किया जाना चाहिए।
5. कार्यालयीन प्रकरणों के निराकरण की अवधि निर्धारित कर देनी चाहिए और निर्धारित समय के भीतर सम्पन्न न किये जाने वाले कार्यो के लिये तत्सम्बन्धी शासनाधिकारियों को कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए।
6. जिस अधिकारी की चरित्रहीनता उसके वरिष्ठ अधिकारियों के द्वारा प्रतिपादित की जा चुकी हो, उसके अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के चरित्र के प्रति निर्णय निर्णय देने के अधिकार का समपहरण कर लिया जाना चाहिए।
7. शासकीय व्यवस्था में योग्यता को प्राथमिकता देने वाली नीति का अनुसरण करने से युक्त-पद समुदाय व्यवस्था का जन्म होगा।
8. न्यायपूर्ण सुझावों का सम्मान करने वाली नीति अपनाने से समाजवाद की स्थापना शीघ्रतापूर्वक की जा सकेगी।
9. ऐसी शिक्षा-पद्धति का आविष्कार किया जाना चाहिए, जिससे छात्रों में कृतज्ञता की भावना जागृत हो और उन्हें मानवोचित लक्ष्यों एवं कर्तव्यों का समुचित बोध हो। केवल ऐसी वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति से ही राष्ट्र का उत्थान हो सकता है।
10. निरपराध को अपराधी और अपराधी को निरपराध सिद्ध करने वाले वर्तमान न्याय-शास्त्र एवं न्यायशास्त्रियों को निरस्त करने वाली नीति से युक्त, न्याय-पद्धति का विकास करना चाहिये।

11. सह-अस्तित्व की भावना को राष्ट्रीय चरित्र में ढालने के लिये उच्चतम एवं निम्नतम वेतनमानों को निकटतम लाने वाली नीति का उद्भव आवश्यक है।
12. कर केवल उत्पादन पर ही लगाया जाना चाहिये।

मुझे पूर्ण आशा है कि आप अपने अमूल्य समय में से कुछ समय निकाल कर उपरिलिखित विचारों एवं सुझावों पर मनन करेंगे तथा उन्हें व्यावहारिक रूप देने का सुलभ और सरल मार्ग अपने पदानुसार तत्परता पूर्वक अपनायेंगे। यदि कहीं पर भाव स्पष्ट न हुआ हो तो मैं सदैव स्पष्टीकरण के लिये तत्पर हूँ।

आशा है कि आप उपर्युक्त विचारों और सुझावों के प्रति अपनी सम्मति भेजने का कष्ट करेंगे, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर सकूँ।

ए. नागराज शर्मा

1 जनवरी 1968

4. परिवार मानव: एक आवश्यकता (क्र.१)

22-4-1995

भिलाई

हम सदा-सदा से परिवार का नाम लेते ही हैं। उल्लेखनीय तथ्य यही है कि परिवार में सदा-सदा के लिए पूर्णतया समाधान, समृद्धि, परस्पर विश्वासपूर्वक सहअस्तित्व सहज रूप में जीने का स्वरूप अपेक्षित रहते हुए प्रमाणित नहीं हो पाया है, यही पीड़ा है। इसका कारण मानवीयतापूर्ण आचरण और इसके मूल में जीवन ज्ञान एवं अस्तित्व दर्शन सहज जागृति मानव परंपरा में स्थापित नहीं हुआ है। यही मुख्य बिन्दु है। हर व्यक्ति समाधान, समृद्धि सहज अपेक्षारत रहता है – परंपरा जागृति और जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करने में अपने को असमर्थ पाते ही आया है। परंपरा जागृत होने के उपरान्त ही हर मनुष्य जागृत होने की संभावना और प्रक्रिया समीचीन होना पाया जाता है। परंपरा जागृत होने का तात्पर्य मानवीयतापूर्ण शिक्षा, मानवीयतापूर्ण संविधान और मानवीयतापूर्ण व्यवस्था ही है।

मानवीयतापूर्ण शिक्षा व अध्ययन क्रम में ही प्रत्येक मानव 'स्वायत्त मानव' होना पाया जाता है। ऐसा स्वायत्त मानव ही 'परिवार मानव' के रूप में प्रमाणित होना स्वाभाविक है। 'स्वायत्त मानव' अपने में 'जीवन -ज्ञान' रूपी परम ज्ञान 'अस्तित्व दर्शन' रूपी परम दर्शन और 'मानवीयतापूर्ण आचरण' रूपी परम आचरण सम्पन्न रहना पाया जाता है, फलस्वरूप स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबन होना पाया जाता है। ऐसे 'स्वायत्त मानव' का वैभव छोटे से छोटे और बड़े से बड़े परिवार में प्रमाणित होता है। जैसे परिवार, परिवार समूह, ग्राम परिवार क्रम से विश्व परिवार। सभी स्तरीय परिवार में मनुष्य का ही वैभव प्रमाणित होता है। मानव का सार्वभौम वैभव 'सम्यक-त्रय' संपन्नता ही है। इसे सर्वसुलभ करना ही अथवा लोकव्यापीकरण करना ही मानवीय शिक्षा संस्कार का स्वरूप है। इसी क्रम में अर्थात् ऐसे शिक्षा - संस्कार क्रम में ही परिवार मानव प्रतिष्ठा प्रमाणित होता है।

हर परिवार मानव स्वायत्त रहने के आधार पर ही स्वानुशासित होने का मार्ग प्रशस्त होता है। यही जागृति का प्रमाण है। स्वानुशासन अपने में जागृतिपूर्वक स्वयं-स्फूर्त कार्यकलाप है। मानव सहज सम्पूर्ण कार्यकलाप व्यवस्था सहज वर्तमान और समग्र व्यवस्था में भागीदारी ही है। व्यवस्था अपने में मानवीयतापूर्ण परिवार ही है। ऐसे प्रत्येक परिवार सहअस्तित्व में जीना सहज है। यही सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र रूप है। इसकी व्याख्या मानवीयतापूर्ण परंपरा और उसका लोकव्यापीकरण ही है।

सर्वमानव स्वाभाविक रूप में ही अथवा अनजाने में भी शुभ को चाहता है क्योंकि अभी तक सर्वशुभ घटित तो नहीं हुई है, इसके उपरान्त भी सर्वाधिक मनुष्य समाधान, समृद्धि, अभय व सहअस्तित्व रूपी सर्वशुभ को चाहता ही है। ऐसा चाहने के क्रम में विविध प्रकार से प्रयास करना भी विविध समुदाय के रूप में दिखता है। ये सभी प्रयास, अनेकानेक रूप में इस धरती पर इसी वर्तमान में विद्यमान हैं। इसे धर्मगदियों, राजगदियों, व्यापार गदियों, शिक्षा गदियों के रूप में और अनेकानेक समाजसेवी संस्थाओं के रूप में भी देखा जा सकता है। ये सभी अपने अपने में सर्वशुभ के दावेदार हैं। सर्वशुभ तो बहुत दूर रहा, विरोधाभास सदा-सदा ही प्रज्वलित होता आया। विरोधाभास का

पक्षधर स्वयं विरोधों को शाब्दिक, वाचिक विधि से स्वीकारता नहीं है। अर्थात् विरोधाभास का पक्षधर कोई भी अपने को विरोधी घोषित नहीं करता। ऐसा कोई घोषित करता है उसे उग्रवादी - असामाजिक कहा जाता है। ऐसा घोषणा करने वाला जब इन गद्दिओं में अथवा संस्थाओं में प्रतिष्ठित हो जाता है तब उनको सर्वशुभ चाहने वाला मान लिया जाता है। इसी कारणवश सामरस्यतापूर्ण परिवार अर्थात् समाधान और समृद्धिपूर्ण परिवार, ग्राम, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण राष्ट्र अपने को प्रमाणित करने में आज भी पर्याप्त नहीं हो पाए हैं क्योंकि एक इकाई समाधान और समृद्धिपूर्ण होने का प्रमाण अनेक रूप में परिणित होना ही है। जैसा - एक परिवार समाधान और समृद्धिपूर्ण होने पर अनेक परिवार का समाधान और समृद्धिपूर्ण होना एक आवश्यकता बन ही जाती है। इसके पहले एक परिवार समाधान समृद्धि सम्पन्न होने का प्रयास सहज है। इस प्रयास में हम सफल हो गए हैं। इसलिए हम सभी को परिवार-मानव रूप में देखने की चाहत सहित प्रस्तुत है।

हर परिवार में पाया जाने वाला हर प्रौढ़ व्यक्ति अपने परिवार में विरोध न हो, विद्रोह न हो, आतंक न हो, अन्याय न हो, ये सब कामना के रूप में स्वीकारा रहता है। दूसरे विधि से समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व सम्पन्न होने की चाहत बना ही रहता है। उल्लेखनीय तथ्य यही है हर परिवार इसके विपरीत यंत्रणाओं को भोगते हुए, देखते हुए ही परिवार रूप में होना पाया जाता है और इसका समाधान उनके पास न होने के फलस्वरूप आशय के अनुरूप स्वयं को नियोजित नहीं कर पाता है। दूसरे विधि से सर्वशुभ रूपी आशयों को सफल बनाने के लिए स्वयं से कोई योजना-उपाय निष्पन्न नहीं हो पाता है। इसी निरीहतावश और विभिन्नतावश बहुमुखी प्रताड़नाओं का भाजक हो जाता है। यही प्रत्येक मनुष्य में विफलता का कारक तत्व है। इसका उपाय केवल परिवार मानव विधि ही है। ऐसे परिवार मानव प्रतिष्ठा के लिए स्वायत्त मानव विधि को अपनाना अनिवार्य है। स्वायत्त मानव विधि सूत्र केवल सम्यकतात्रय में जागृति ही है। ऐसे जागृति कार्यक्रम के लिए हम जीवन विद्या कार्यक्रम और शिक्षा का मानवीयकरण कार्यक्रम को सम्पन्न कर रहे हैं। इसमें जितने भी पारंगत होते हैं वे सब स्वायत्त मानव और परिवार मानव के रूप में प्रमाणित होते हैं। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर हम विश्वास करते हैं कि इसका लोकव्यापीकरण होगा ही क्योंकि सर्व मानव में सर्वशुभ की अपेक्षा बनी हुई है। इस विधि से इसकी सफलता का मार्ग निर्विवाद है।

हर मनुष्य हर अवस्था में कार्य करते हुए सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक आचरण में प्रमाणित होना सहज है। क्योंकि हजारों वर्षों से गलती करते हुए भी एक दिन सही करने का स्थान व संभावना समीचीन रहता ही है। इसी विधि से कितने ही युगों से मनुष्य सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक आचरण का प्यासा व जिज्ञासु है। जीवन ज्ञान रूपी सम्यक ज्ञान, अस्तित्व दर्शन रूपी सम्यक दर्शन और मानवीयतापूर्ण आचरण रूपी सम्यक आचरण सबकी आवश्यकता है। इसी क्रम से प्रकारांतर से हर मनुष्य जिज्ञासु है।

जीवन ज्ञान प्रत्येक मनुष्य में होने वाली आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रामाणिकता सहज अध्ययन है। इसी के साथ जीवन सहज रूप में सम्पन्न होने वाला आस्वादन-चयन, तुलन-विश्लेषण, चिंतन-चित्रण, बोध-प्रज्ञा, अनुभव व अभिव्यक्ति का अध्ययन है। इसमें जीवन का मूलरूप, रचना, प्रक्रिया, विकास और जागृति का सम्पूर्ण अध्ययन समायी हुई है। इसे क्रम से हम आपके सम्मुख अध्ययन के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करते रहेंगे। इस अंक में केवल सम्यक आचरण का स्वरूप प्रस्तुत है। यथा- सम्यक आचरण का तात्पर्य सार्वभौम रूप में मानव में, से, के लिए स्वीकृति सहित आचरण ही है।

मानवीयतापूर्ण आचरण में मूल्य, चरित्र और नैतिकता अविभाज्य रूप में पूरक विधि से वर्तमानित रहता है। पूरकता का तात्पर्य चरित्र के साथ मूल्य, नैतिकता के साथ चरित्र अविभाज्य रूप में, अक्षुण्ण रूप में रहना पाया जाता है। हर मनुष्य संबंधों के साथ ही मूल्यों को प्रमाणित करता है। जैसे – कृतज्ञता, गौरव, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, वात्सल्य, ममता, सम्मान और स्नेह। इनमें से विश्वास सभी संबंधों में सार्थक होता है। इसके मूल में संबंधों को पहचानना ही निर्वाह करने का आधार रहता है। निर्वाह करने के क्रम में उन उन संबंधों में विश्वास होना स्वाभाविक क्रिया है। ऐसा प्रमाण स्वायत्त मानव सहज स्वयं के प्रति विश्वास ही हर संबंधों में प्रवाहित होना देखा गया है। संबंधों को पहचानने के क्रम में उसकी आवश्यकता और प्रयोजन सहज स्वीकृति जागृत व्यक्ति में होता ही है। इसी क्रम में हर व्यक्ति परिवार के हर सदस्य का संबंध, उसके प्रयोजन के संबंध में जागृत रहता है। अतएव निर्वाह हो पाता है। निर्वाह होने के हर प्रक्रिया के मूल्यांकन में उभय संतुष्टि होती ही है। इस प्रकार संबंधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह पूर्वक किये मूल्यांकन और उभयतृप्ति है।

चरित्र का स्वरूप स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य व्यवहार के रूप में देखा गया है। ऐसा चरित्र हर मानव में, से, के लिए स्वीकार्य है। स्वधन का तात्पर्य प्रतिफल, पारितोषिक और पुरस्कार के रूप में प्राप्त वस्तुएं हैं। स्वनारी/स्वपुरुष का तात्पर्य लोक विदित है। विवाह संबंध पूर्वक प्राप्त दाम्पत्य संबंध इसकी सफलता, संतुलन, व्यवस्था के रूप में जीने, व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने के रूप में देखा गया है। ऐसे कार्य और उसकी निरन्तरता के लिए प्रतिज्ञित होना ही प्रधानतः विवाह संबंध है। संबंध का तात्पर्य भी पूर्णता के अर्थ में अनुबंधित रहने से है। दयापूर्ण कार्य व्यवहार का तात्पर्य जीने देकर जीना है। हर जागृत अभिभावक अपने संतानों को जीने देकर ही जीना चाहते हैं। इस प्रकार सार्वभौम रूप में मानवीयतापूर्ण चरित्र अभिहित होता है।

नैतिकता की भाषा हम सुनते ही हैं। नैतिकता का अर्थ ही होता है नियति क्रम में गति। नियति के स्वरूप को विकास, जागृतिक्रम और जागृति के रूप में देखा गया है। जागृति में, से, के लिए तन, मन, धन रूपी अर्थ को नियोजित कर सदुपयोग को प्रमाणित करना और जिसके लिए नियोजित किए उसकी सुरक्षा होना नैतिकता का स्वरूप है। इसी को दूसरे शब्दों से तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोगात्मक नीति ही धर्मनीति है और निश्चित वस्तु व व्यक्ति का सुरक्षात्मक नीति ही राज्यनीति है।

जय हो ! मंगल हो !! कल्याण हो !!!

5. परिवार मानव: एक आवश्यकता (क्र.२)

मार्च-अप्रैल 1995

हम मानव एक दूसरे के विचारों को सुनना चाहते हैं। हर बोलने-सुनने अथवा पढ़ने-सुनने के साथ-साथ कुछ स्थायित्व की ओर इच्छाएँ दौड़ते हैं। जैसे :-

1. हम समाधान की ओर चर्चा छेड़ते हैं, उसके स्पष्ट रूप को सार्वभौमता के रूप में समझना चाहते हैं, स्वीकारना चाहते हैं।
2. हम समृद्धि की बात एक दूसरे से करते हैं, सबके लिए समृद्धि कैसे हो सर्वाधिक लोगों में कल्पना के रूप में दौड़ती है।
3. अभयता की बात करते हैं, उसमें भी अभयशीलता सब को प्राप्त हो सकता है, सोचते हैं। इसी प्रकार
4. सहअस्तित्व का संवाद भी सबके लिए, सबके साथ कैसे सार्थक हो, इस ओर मनुष्य की कल्पनाएँ दौड़ लगाता हुआ, कई संवादों में हम देखे। इसमें उल्लेखनीय वस्तु यही है हर व्यक्ति अपने में इन चारों उपलब्धियों को पाने की स्थली में स्वीकारता है। साथ ही अधिकांश मनुष्य प्रकारांतर से, यह सबको मिलने वाला नहीं है, ऐसा सोचकर चुप हो जाते हैं। उसके फलस्वरूप व्यक्तिवादी विधि से इन सभी को संजोने में अपने ही तरीके से तुल जाते हैं।

हम जीवन विद्या परिवार इस बात को देख चुके हैं कि अभी तक भय, प्रलोभन और आस्था के आधार पर आधारित सभी प्रयास असफल हो चुका है। इसलिए इसी की पैरवी करने वाले आशा, विचार, इच्छाएँ उक्त उपलब्धियों के सार्वभौमता को सबको मिलने की आवश्यकताओं, संभावनाओं पर शंका करता ही आया है। यहाँ उल्लेखनीय बात यही है हर व्यक्ति समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व को अपनी निजी आवश्यकता और संभावना स्वीकारते हुए “सबकी आवश्यकता है” इस तथ्य पर शंका कर देते हैं। इसका मूल कारण भय प्रलोभन आस्थानुसार जो लाभोन्मादी, भोगोन्मादी और कामोन्मादी शिक्षा प्रचार तंत्र से प्रभावित रहना पाया जाता है। यह निष्कर्ष इस बात का द्योतक है कि सर्वस्वीकृत उन्मादत्रय की निरर्थकता, भय प्रलोभन की स्वीकृत निरर्थकता और आस्थावादी विधाओं में मिलने वाला सम्मान प्रधान कारण रहा है।

आस्था केंद्र को राजतन्त्र और धर्मतंत्र को सुदूर विगत से माना गया है, क्योंकि आस्थाओं का मूल स्वरूप, रचना, गति और गंतव्य किसी भी देश काल में, किसी भी समूह में लोक गम्य नहीं हो पाया। इतना ही नहीं आस्थाओं के पीछे असंख्य व्यक्ति समर्पित होते हुए भी समुदाय परंपरा में भी प्रमाण सिद्ध नहीं हो पाई। यह तो सबको विदित है ही कि हर समुदाय किसी न किसी धर्म तंत्रित आस्थाओं से जूझता ही आया।

राजतन्त्र का मूल रूप भी किसी विद्वान-मूर्ख, ज्ञानी-अज्ञानी, धनी-निर्धनी, बली-दुर्बली को प्रमाण रूप में करतलगत नहीं हुई। यदि किसी व्यक्ति को हुआ हो, वह परंपरा में ख्यात नहीं है। इसका तात्पर्य यही हुआ जितने भी

राज्य गद्दी में बैठे उन्हें, उनको ताकने वाले, देखने वाले, सुनने वाले किसी को राज्य मिला हो ऐसा प्रमाण न मिल पाना ही उल्लेखनीय घटना है।

धर्म गद्दी में आसीन किसी व्यक्ति को धर्म मिल गया हो, इसका प्रमाण अभी तक किसी देशकाल में मिल नहीं पाई। इसके बावजूद भी इन दोनों प्रकार की गद्दियाँ, सम्मान, गौरव, अभिवादन, समर्पण पाता हुआ देखने को मिलता है। इस विधि से हम इस निष्कर्ष पर आए हैं कि इसका विकल्प नियतक्रम में अर्थात् विकास और जागृति क्रम में एक अनिवार्य स्थिति बन चुकी है। क्योंकि विज्ञान ने सभी प्रकार के देश-काल संबंधी दूरी को घटा दिया है। इसका श्रेय तकनीकी में पारंगत व्यक्तियों को जाता है।

हम यह भी देख पा रहे हैं कि धर्मगद्दी और राज्यगद्दी की असफलता को स्वीकारे हुए बुद्धिजीवियों की बहुत बड़ी भारी संख्या इस धरती पर है। इनसे गठित संगठनों को विशेषकर समाजसेवी संस्थाओं के नाम से माना जाता है, सुना जाता है। इन समाजसेवी संगठनों से जुड़े व्यक्तियों का भी मानना है कि राज्य और धर्म की हमारी कोई अपेक्षा नहीं है, हम समाजसेवी हैं। यहाँ उल्लेखनीय भ्रम यही है कि शासन विरोधी कार्य के बिना शासन नहीं सुधर सकती। इसी प्रकार अंधविश्वास रूपी धर्मतंत्र को विरोध किए बिना धर्म सुधर नहीं सकता। इसीलिए इनके विरोध के लिए संघर्ष करना आवश्यक है। बुद्धिजीवियों को ऐसा वक्तव्य देते सुना गया है, देखा गया है। यह एक विचारणीय विडंबना है।

ऊपर कहे हुए गतिविधियों को ध्यान में लाने पर इतना ही पर्याप्त है कि समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व सर्वसुलभ होने के लिए उचित योजना, उसके लिए समुचित नियंत्रण, नियामन, निश्चयन विधि तथा विज्ञान और विवेक विचार शैली की आवश्यकता है ही। इसके मूल में यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता को इंगित होने और इंगित करने योग्य सहअस्तित्व सूत्रों को पहचानना अनिवार्य है।

हम इस तथ्य का अनुभव करते हैं स्वायत्त मानव परिवार मानव के रूप में और परिवार मानव ग्राम स्वराज्य के रूप में प्रमाणित होना सहज है। इन कार्यों में हम प्रयासोन्मुखी हैं। इनमें से स्वायत्त मानव के रूप में स्वीकृतियों और निष्ठाओं को जीवन विद्या परिवार में पहचाना जा सकता है। इतना ही नहीं जीवन विद्या प्रतिष्ठान के द्वारा संचालित शिक्षा का मानवीयकरण कार्यक्रम और उपक्रम सहित विद्यार्थियों में पाई जाने वाली गुणवत्ता, व्यावहारिकता, अध्ययन और अवधारणाओं में दक्षता के रूप में देख सकते हैं।

इन विधियों पर विश्वास करते हैं, निष्ठा करते हैं कि सर्वशुभ रूपी समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व, सर्वदेश काल में सर्वसुलभ होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवसाय में स्वावलंबन तथा व्यवहार में सामाजिक होना अपरिहार्य है। यही स्वायत्त मानव का स्वरूप है।

स्वायत्त मानव ही एक से अधिक मिलकर परिवार मानव के रूप में प्रमाणित हो पाते हैं। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यही है कि स्वायत्त मानव बनने के लिए सहज उपाय (सबको सुलभ होने वाला उपाय) केवल जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन और मानवीयतापूर्ण आचरण ही है। यही सहअस्तित्व विधि विचार संपूर्तित-आपूर्तित करता है। संपूर्ति का तात्पर्य सम्पूर्ण प्रकार से पूर्ति होने से है और आपूर्ति का तात्पर्य आवश्यकतानुसार पूर्ति होने से है। इस विचार से अर्थात्

सहअस्तित्ववादी विचार से अनुरंजित विधि से आप तक यह पत्रिका पहुंचता रहेगा। इसी विधि से हम इस बात पर आपको विश्वास दिलाएंगे कि स्वायत्त मानव के रूप में प्रमाणित होने के लिये पूर्ववर्ती निर्देशित, उपदेशित व्यक्तिवादी (एकांतवादी, विरक्तिवादी, भक्तिवादी, रहस्यवादी, जप, तप, यज्ञ, दान, ध्यान, आदि) उपाय आवश्यक नहीं हैं। जीवन ज्ञान और अस्तित्व दर्शन के विधिवत अध्ययन से मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित होता है। फलस्वरूप अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था का सूत्र प्रशस्त हो जाती है।

मध्यस्थ दर्शन

1. मध्यस्थ दर्शन (क्र.१)

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) के प्रचार प्रसार के क्रम में :-

“निम्न बिन्दुयें अस्तित्व में मानव जीवन के नित्य वैभव को स्पष्टतया पहचानने के लिए विचारणीय हैं।”

1. अस्तित्व कैसा है? का समाधान क्या होगा?

जबकि आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार अस्तित्व को चेतना मात्र कहा गया है और पदार्थ को चेतन से निष्पन्न हुआ समझा गया है। जबकि भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार अस्तित्व को पदार्थ मात्र ही समझा गया और चेतना को पदार्थ के विकास की परिणति कही गई और जबकि मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्व विचारधारानुसार सत्ता अर्थात् अरूपात्मक अर्थात् चेतना में संपृक्त नित्य सामरस्य रत प्रकृति अर्थात् रूपात्मक अर्थात् पदार्थ को अस्तित्व समग्र प्रतिपादित किया।

2. अस्तित्व में विकास होता है या नहीं, यदि होता है तब विकास किसका एवं उसका स्वरूप क्या?

जबकि आदर्शवादी विचारधारा विकास को नकार दिया एवं भौतिकवादी विचार विकास को स्वीकारते हुए मात्रा रचना और साधन मूलक या आनुषांगिक कहा। जबकि मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववादी विचारधारा प्रकृति के मूल इकाई परमाणु में विकास होने के तथ्य को प्रतिपादित किया और उसके स्वरूप को पूर्णतात्रय – गठन, क्रिया एवं आचरणपूर्णता स्पष्ट करते हुए उसके निरन्तरता को अध्ययन सुलभ किया है।

मूलतः विचार धारा क्या होनी चाहिये?

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	या	समाधानात्मक भौतिकवाद
संघर्षात्मक जनवाद	या	व्यवहारात्मक जनवाद
रहस्यात्मक अध्यात्मवाद	या	अनुभवात्मक अध्यात्मवाद

क्योंकि “विचारधाराएं अवधारणाओं का स्रोत हैं”

4. मानव समाज व व्यवस्था तंत्र का आधार क्या होगा ?

कामोन्मादी मनोविज्ञान या जीवन संचेतना अर्थात् संज्ञानीयता एवं संवेदनशीलतावादी मनोविज्ञान

भोगोन्मादी समाज चेतना या व्यवहारवादी अर्थात् दायित्व व कर्तव्य की निर्वाहवादी चेतना

लाभोन्मादी अर्थ व्यवस्था या आवर्तनशील सदुपयोग एवं सुरक्षावादी अर्थव्यवस्था

5. मानव की समझ का अर्थ क्या होना चाहिए ?

प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता

समाधान या समस्या

“प्रयोग व्यवहार एवं अनुभव द्वारा सिद्ध होना ही प्रमाण और उसकी अभिव्यक्ति प्रामाणिकता और उसकी संप्रेषणीयता ही समाधान है”

6. जीवन वैभव का पहचान कैसे होगा ?

इंद्रिय सन्निकर्षात्मक व्यंजनाओं से या आशा विचार इच्छा संकल्प एवं अनुभव जैसे अक्षय शक्तियों से

“संचेतना ही प्रत्येक मनुष्य में अपरिष्कृत, परिष्कृत एवं परिष्कृतपूर्ण पदों में वर्तमान है”

7. मानवीय चरित्र का आधार क्या होना चाहिए ?

वर्गवादी या सहअस्तित्ववादी

व्यक्तिवादी या समाज (व्यवहार) वादी

यांत्रिकतावादी या परिष्कृत संचेतनावादी

“प्रत्येक मनुष्य में समाधान समृद्धि अभय व सहअस्तित्वपूर्वक वर्तने की संभावना समाहित है”

8. मानवीय संस्कृति सभ्यता विधि एवं व्यवस्था के सामरस्यता के लिए व्यावहारिक संस्कार का अर्थ क्या होना चाहिए?

नाम संस्कार - समुदाय के	या	पहचान के अर्थ में
नीति संस्कार - वर्ग के अर्थ में	या	मानव जाति के अर्थ में
दीक्षा संस्कार - संप्रदाय के अर्थ में	या	जीवन वैभव, मूल्य एवं सार्वभौमता के अर्थ में
व्यवहार (कर्म) संस्कार - व्यक्तिवादी चेतना के अर्थ में	या	मानवीयता के अर्थ में
शिक्षा संस्कार - व्यवसाय के अर्थ में	या	व्यवहार, व्यवसाय समप्रभुता एवं प्रभुसत्ता के अर्थ में “मानव संस्कारपूर्वक ही अभ्युदय शील है”

9. मानव के विकास के आंकलन का प्रत्यक्ष आधार क्या होना चाहिए?

रूप को नैतिकता	या	नस्ल के आधार पर
बल को दया	या	बल विध्वंस के आधार पर
धन को उदारता	या	संग्रह एवं शोषण के आधार पर
पद को न्याय	या	वर्ग संघर्ष के आधार पर
बुद्धि को विवेक और विज्ञान	या	कूटनीति के आधार पर

2. मध्यस्थ दर्शन (क्र.२)

प्रस्तुत योजना का स्रोत मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) है जो सार्वभौम मानवीय संविधान, शिक्षा, स्वराज्य व्यवस्था को प्रतिपादित करता है।

मध्यस्थ दर्शन रहस्य से मुक्त है। यह मनुष्य के सम्पूर्ण आयामों की यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता को अध्ययनगम्य और बोधगम्य कराता है। मध्यस्थ दर्शन अनुभव बल की अभिव्यक्ति, सर्वतोमुखी समाधान की सम्प्रेषणा, न्यायपूर्ण व्यवहार, नियमपूर्ण व्यवसाय व आचरणपूर्ण पद्धति से जीने की कला को करतलगत कराता है। साथ ही साधारण उपायों द्वारा योजनाबद्ध पद्धति से मनुष्य की परस्परता में भौतिक समृद्धि, बौद्धिक समाधान, अभयता (मानव में निहित समस्त भयों से मुक्ति) व सहअस्तित्व को सहज सुलभ कराता है।

मध्यस्थ दर्शन के अनुसार अस्तित्व में प्रत्येक इकाई समग्रता के साथ भागीदारी का निर्वाह करते हुए अग्रिम विकास के सूत्र से सूत्रित है। इस तथ्य को जानने मानने पहचानने एवं निर्वाह करने के क्रम में मानव स्वयं एक व्यवस्था है व समग्र व्यवस्था के साथ भागीदार है। अस्तित्व ही सम्पूर्ण भाव है। अस्तित्व में मानव ही सभी भावों का दृष्टा है। भाव की अपेक्षा में ही अभाव होता है। अभाव की समझ मानव में जन्म से रहती है। अभाव की समझ ही अव्यवस्था की समझ है जो दुख का कारण है। सभी भावों की समझ ही जीवन जागृति है। यही अस्तित्व में व्यवस्था की समझ है। जो अनुभव में प्रामाणिकता व विचार में समाधान है। सम्पूर्ण समाधान में मानव तथा नैसर्गिक सम्बन्धों की पहचान और उनमें निहित मूल्यों का निर्वाह सहज रूप में होता है।

जीवन विद्या का आधार

मध्यस्थ दर्शन निम्न पाँच भागों में है।

मध्यस्थ दर्शन

1. मानव व्यवहार दर्शन
2. मानव कर्म दर्शन
3. मानव अभ्यास दर्शन
4. मानव अनुभव दर्शन
5. मानव व्यवसाय दर्शन

जिसमें समग्र अस्तित्व अर्थात् अस्तित्व ही सहअस्तित्व, अस्तित्व में विकास, विकास क्रम में जीवन व जीवन जागृति तथा अस्तित्व में भौतिक रासायनिक रचना व विरचना का निर्भ्रम अध्ययन समाविष्ट है।

मध्यस्थ दर्शन पर आधारित सहअस्तित्ववादी दृष्टिकोण के आधार पर मानव किस प्रकार मनुष्येतर प्रकृति के साथ, मानव मानव के साथ, व मानव समग्र अस्तित्व में सत्ता सहअस्तित्व को अनुभव कर सकता है; यह निम्न तीन विचार धाराओं में अध्ययन कराया गया है।

1. समाधानात्मक भौतिकवाद
2. व्यवहारात्मक जनवाद
3. अनुभवात्मक अध्यात्मवाद

सहअस्तित्व विचारधारा के आधार पर ही स्वराज्य (न्याय सुलभता, विनिमय सुलभता, उत्पादन सुलभता) व स्वतंत्रता (स्वानुशासन) मानव को जीने की कला के रूप में उपलब्ध हो जाये। इसलिये उसे निम्न शास्त्रों में अध्ययन सुलभ कराया गया है।

1. आवर्तनशील अर्थ चिंतन
2. व्यवहारवादी जनचेतना (मानवीय संविधान व आचार संहिता)
3. मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान

इसके साथ निम्न योजनायें उपलब्ध हैं:

1. परिवार मूलक ग्राम स्वराज्य व्यवस्था
2. मानवीय शिक्षा योजना
3. मानवीय उत्पादन व्यवस्था योजना
4. मानवीय न्याय व्यवस्था योजना
5. मानवीय स्वास्थ्य संयम व्यवस्था योजना
6. आवर्तनशील विनिमय व्यवस्था योजना
7. पर्यावरण सुरक्षा योजना
8. सार्वभौम राज्य व्यवस्था योजना
9. मानवीय संविधान योजना

3. मध्यस्थ दर्शन (क्र.३)

दिनांक 20-3-84

दिव्य पथ संस्थान, अमरकंटक

जिला - शहडोल (म. प्र.)

“अभय, समाधान, समृद्धि एवं सहअस्तित्वपूर्वक ही अखण्ड राष्ट्रीयता सुलभ होगी।”

ऐसी व्यवहारिक उपलब्धि के लिये सामाजिक (धार्मिक), आर्थिक एवं राज्यनैतिक स्वतंत्रता तथा समन्वयता अपरिहार्य है, जिसके लिये मानवमूल्य मानव चरित्र एवं मानवतावादी नीति का निश्चयीकरण तथा निर्धारण आवश्यक है। मानव जीवन का तात्त्विक एवं व्यावहारिक अध्ययन ऐसी नीति को सर्वसुलभ बनाने के लिये आवश्यक है। यह इसलिये भी महत्वपूर्ण लगता है कि मानव का कार्यकलाप केवल उसके शरीर की तुष्टि एवं पुष्टि के लिये ही नहीं है अपितु सर्वक्रियाकलाप से वह बौद्धिक समाधान भी चाहता है।

बौद्धिक समाधान के लिये भौतिक एवं बौद्धिक क्षेत्र के क्रियाकलापों का मूल्यांकन एवं उनकी वरीयता का निर्धारण तथा अनुशासनक्रम का निर्धारण आवश्यक प्रतीत होता है। इसके लिये दिव्य पथ संस्थान अमरकंटक के तत्वावधान में दिनांक 9-6-84 से 11-6-84 तक एक संगोष्ठी का आयोजन अमरकंटक जिला शहडोल (म.प्र.) में किया गया है जिसमें संलग्न पत्र के अनुसार बिन्दुओं पर चर्चा प्रस्तावित है।

आशा है मानव में निहित अमानवीयता के भय के उन्मूलन तथा मानवीयतापूर्ण सामाजिकता की स्थापना का कार्यक्रम निश्चित तथा क्रियान्वित करने की दिशा निर्धारण के लिये आपका सहयोग हमें अवश्य ही प्राप्त होगा।

चिंतन, परिचर्चा एवं संगोष्ठी

विचार बिन्दु :-

(1) विश्वशान्ति की अनिवार्य आवश्यकतायें:-

(अ) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर समाधानात्मक भौतिकवाद, संघर्षात्मक जनवाद के स्थान पर व्यवहारात्मक जनवाद, रहस्यात्मक अध्यात्मवाद के स्थान पर अनुभवात्मक अध्यात्मवाद की स्थापना।

(ब) आर्थिक राज्यनीति एवं धार्मिक (साम्प्रदायिक) राज्यनीति के स्थान पर सामाजिक-आर्थिक राज्यनीति की स्थापना

(2) वर्तमान में उपलब्ध समस्त "मत-सिद्धान्त एवं वाद" का सार्वभौम सिद्ध न होना - संस्कृति, सभ्यता विधि एवं व्यवस्था के सभी रूपों में व्याप्त विसंगति - अतएव विकल्प की आवश्यकता।

(3) मध्यस्थ दर्शन: – एकमेव सार्वभौम विकल्प – समीक्षा एवं विवेचन-यथा: –

(अ) मानव एवं मानव मूल्यों की पहचान

(ब) मानवीय मूल्यों को पहचानने के क्रम में स्थिति मीमांसा

(स) स्थिति मीमांसा के क्रम में सहअस्तित्व एवं सहअस्तित्व के क्रम में रूपात्मक तथा गुणात्मक विकास एवं विकास के क्रम में जीवनपद

(द) जीवन के गुणात्मक विकास के क्रम में मानवपद (ज्ञानावस्था)

(य) मानव पद में गुणात्मक विकास के फलस्वरूप सुलभ होने वाले जीवनमूल्य समाजमूल्य और वस्तुमूल्य पर आधारित मानवचरित्र एवं नैतिकता की प्रस्थापना।

(र) संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था में मानव मूल्य और मूल्यांकन संस्कार पद्धति, न्याय सुलभता एवं विनिमय सुलभतावादी शिक्षा की प्रस्थापना।

संस्थान का परिचय इस प्रकार है—

संस्थान दिव्य पथ संस्थान के नाम रूप से प्रतिष्ठित है। जिसका विधिवत म.प्र. सोसाइटी रजिस्ट्रेशन अधिनियम 1973 के अन्तर्गत 16 मार्च 1981 को पंजीयन हुआ है। यह वर्तमान में निष्ठावान बुद्धिजीवी सदस्यों का संगठन है। अधिकांश सदस्य स्वाध्यायी हैं। संस्था का प्रमुख कार्यालय अमरकंटक जिला शहडोल में है। सदस्यता के लिये मात्र स्वप्रेरित व्यक्तियों का स्वागत है। संस्थान का उद्देश्य परमपूज्य श्री ए नागराज शर्मा द्वारा प्रतिपादित मध्यस्थ दर्शन जो मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास एवं अनुभव दर्शन के रूप में व्याख्यायित है, का जन समुदाय में प्रचार एवं प्रसार करना है, जिसमें मानव व्यवहार दर्शन पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

सदस्यों का उद्देश्य प्रधानतः अध्ययन एवं अध्ययनारूप व्यवहार एवं अभ्यास करना है। जिससे "भविष्य को विषम बनाने में अपना सहयोग नहीं है", को प्रतिपादित कर स्वयं में आश्वस्त होना और अन्यो को प्रेरित करना है।

दर्शन प्रणेता का परिचय:—

दर्शन प्रणेता परम पूज्य श्री ए नागराज शर्मा का जन्म 14 जनवरी 1920 को अग्रहार ग्राम, तहसील अरकलगुड, जिला हासन प्रान्त कर्नाटक में हुआ। उन्होंने कालीदास रचित सुप्रसिद्ध काव्य "मेघदूत" को कन्नड़ भाषा में भाषान्तरण किया। साथ ही वैदिक चिंतन को आत्मसात् कर "विचार विमर्श" नामक ग्रन्थ की रचना की। जीवन मूलक अध्ययन एवं सत्यान्वेषण के प्रयास के क्रम में सन् 1950 से अमरकंटक में अपने परिवार सहित कृषि एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा को जीविकोपार्जन का माध्यम बनाकर साधनारत रहे।

दर्शन परिचय:-

दर्शन स्थिति मूलक समग्रता की व्याख्या करते हुये अरुपात्मक अस्तित्व को सत्ता एवं रूपात्मक अस्तित्व को प्रकृति की संज्ञा देते हुए, सत्ता को पूर्ण व्यापक एवं प्रकृति को अनन्त क्रियाशील निरूपित करते हुए समग्र अस्तित्व को सत्ता में संपृक्त प्रकृति और स्थिति को सहअस्तित्व प्रतिपादित करता है। फलस्वरूप जगत मिथ्या की अतिवादिता एवं जगत सर्वस्व की अतिवादिता को नकारते हुये प्रकृति को विकास क्रम में गठनपूर्णतापूर्वक चैतन्य पद में होने की सत्यता को एवं उसके अनन्तर गुणात्मक विकासपूर्वक क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता होने की वास्तविकता को कारण, गुण, गणित द्वारा स्पष्ट कर अध्ययन सुलभ किया है। पूर्णतात्रय की स्थिति में प्रकृति के चैतन्य पद अर्थात् जीवन का अस्तित्व सहित मुक्त होना नियति है, को प्रयोगपूर्वक, व्यवहार पूर्वक एवं अनुभवपूर्वक प्रमाणित किया है। विकास क्रम में प्रकृति की ज्ञानावस्था को मनुष्य की संज्ञा दी गई है। इसमें मनुष्य को परिभाषित कर मनुष्य के जीवन, जीवनीक्रम, जीवन के कार्यक्रम एवं उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये सुखधर्मी सिद्ध क्रिया है। इसी क्रम में मनुष्य का स्वभाव दृष्टि एवं विषय को ध्यान में रखते हुये, पशु मनुष्य, राक्षस मनुष्य, मनुष्य, देव मनुष्य एवं दिव्य मनुष्य की कोटि में वर्गीकृत किया जो मनुष्य के संक्रमणपूर्वक विभिन्न विकसित स्थिति को स्पष्ट करता है।

विकास की स्थिति जो पूर्णतया नियमबद्ध होकर व्यवस्थित है को प्रतिपादित करते हुये पूर्व मान्यतायें अधिदैविक, दैविक एवं अधिभौतिक जो रहस्यात्मक अध्यात्मवाद संघर्षात्मक जनवाद एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के रूप में जो ख्यात हुआ उसे नकारते हुये अनुभवात्मक अध्यात्मवाद व्यवहारात्मक जनवाद एवं समाधानात्मक भौतिकवाद को स्थापित करता है। जिसके अन्तर्गत मानव संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था की सामरस्यता उपलब्ध है। मध्यस्थ दर्शन मनुष्य की मौलिकता को स्पष्ट करते हुये उनमें अधिक उत्पादन एवं कम उपभोग योग्य क्षमता तथा कर्म करते समय स्वतंत्र एवं फल भोगते समय परतंत्रता को स्पष्ट करते हुये अर्थ जो तन मन एवं धन के रूप में है का सम्पत्तिकरण के स्थान पर साधनीकरण तथा उसकी सदुपयोगिता एवं सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन देता है। उसके सदुपयोगात्मक नीति को धर्मनीति और सुरक्षात्मक नीति को राज्यनीति होने की सत्यता को स्पष्ट किया है। इस तरह यह दर्शन प्रत्येक प्रयोजन के मूल से मनुष्य को स्थापित कर धार्मिक, आर्थिक राज्यनीति की सफलता की घोषणा करता है। दर्शनानुसार मनुष्य संस्कारपूर्वक अभ्युदयशील है। यह मनुष्य को प्रत्येक अतिवादिता से मुक्त कर सत्य को स्थिति सत्य, वस्तुगत सत्य एवं वस्तुस्थिति सत्य के सम्मिलित स्वरूप की निर्भ्रम जानकारी प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करता है। फलतः मनुष्य निर्भ्रम होकर मानवीय गुणों से सम्पन्न, प्रबल संस्कारों सहित दिव्यता में अवस्थित होने की अवश्यमेव सम्भावनाओं को पूर्ण प्रामाणिकता के साथ घोषणा करता है।

दिव्य पथ संस्थान का यह विश्वास है कि प्रस्तुत मध्यस्थ दर्शन एक निर्विवाद व्यवस्था को प्रदान करने में पूर्णतः सक्षम है। जनसमुदाय इसे अध्ययन कर अपनी संदिग्धता को दूर करने में सक्षम हो सकेगा। संस्थान दर्शन संबंधी प्रत्येक प्रश्न के समाधान सत्यता एवं व्यावहारिक सफलता को सैद्धांतिक एवं प्रयोग रूप में प्रस्तुत करने के लिये कटिबद्ध है। अतः इस युगीन उपलब्धि को सर्वसुलभ बनाने की दिशा में आप सभी प्रबुद्ध मनीषियों की निष्ठापूर्ण सहयोग की अपेक्षा है।

4. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ४)

दार्शनिक स्रोत

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) अस्तित्व में अनुभव की ही अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा व प्रकाशन है। यह दर्शन अथ से इति तक प्रामाणिक व व्यावहारिक है। यह दर्शन स्वयं प्रयोग व्यवहार और अनुभवात्मक प्रमाणों की कसौटी से निकला हुआ है इसलिए निर्विवाद है ।

यह दर्शन मध्यस्थ सत्ता (साम्य ऊर्जा), मध्यस्थ क्रिया (परमाणु की मध्यांश क्रिया) मध्यस्थ जीवन (जागृतिपूर्ण जीवन) अथवा स्वानुशासित जीवन प्रतिपादित किया है जो अनुभव व व्यवहारगम्य है। इसे संप्रेषणा के क्रम में समाधानात्मक भौतिकवाद के नाम से जाना जाता है। जिसमें श्रम नियोजन व श्रम विनिमय सिद्धांत प्रधान है। प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन पूर्वक ही वस्तु मूल्यों को उपयोगिता व प्रयोजनीयता के आधार पर मूल्यांकन करने की व्यवस्था प्रदान की गई है, जिसमें संग्रह व अपव्यय दोनों ही नहीं होगा, इसलिए इसके व्यवहार रूप को आवर्तनशील अर्थचिंतन कहा है जो समाधानात्मक भौतिकवाद का शास्त्र रूप है।

व्यवहारात्मक जन चेतना जो मानवीय आचार संहिता के रूप में स्पष्ट है, औसद मनुष्य का आधार प्रदान करता है फलतः वर्ग, समुदाय एवं संप्रदाय आदि दीवालें समाप्त होकर स्वच्छंद मानव-सहज एवं मानवीयता सहित जीने की कला को प्रत्येक मनुष्य व्यक्त करने का प्रावधान है, फलतः स्वराज्य एवं स्वतंत्रता को अनुभव करने की व्यवस्था है, जो व्यवहारात्मक जनवाद का शास्त्र रूप है ।

अनुभवात्मक अध्यात्मवाद - अस्तित्व में मनुष्य की जीवन जागृतिपूर्वक सत्य (साम्य ऊर्जा) में अनुभूत होना बोधगम्य करा दिया है, यह सबको बोध होता भी है। अनुभव केवल सत्य में ही होना व्याख्यायित एवम् परिभाषित है, जो प्रत्येक मनुष्य को अनुभवगम्य है। इसके शास्त्र रूप को शैक्षणिक धरातल पर मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान के रूप में स्पष्ट किया है।

5. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ५)

मध्यस्थ दर्शन ने मनुष्य में वस्तुगत सत्य के रूप में पाए जाने वाले व्यवसाय, व्यवहार, विचार एवं अनुभूति - इन चार आयामों को स्पष्ट किया है। इन सभी आयामों की तृप्ति हेतु मनुष्य जीवन के कार्यक्रम की आवश्यकता एवं अनिवार्यता है। इस संदर्भ में साधारण पद्धति से इस निर्णय को प्रतिपादित किया गया है कि व्यवसाय का व्यावहारिक तृप्ति के लिए, व्यवहार का वैचारिक तृप्ति के लिए तथा विचार का अनुभव की तृप्ति के लिए नियोजन ही जीवन के कार्यक्रम का प्रत्यक्ष फल है। इस तथ्य का उद्घाटन धर्मनीति तथा राजनीति एवं उनके पक्षधरों को सूक्ष्म निरीक्षण हेतु बाध्य करता है और साथ ही निर्विवाद कार्यक्रम के लिए प्रेरित करता है।

उत्प्रेरित राजनैतिक एवं धर्मनैतिक संस्थाओं में अथवा राजनीति एवं धर्मनीति की पद्धतियों ने अपनी विशिष्टता से प्रतिष्ठित वैविध्यता सहित विपरीत अर्थात् परस्पर विपरीत पद्धति से जितने भी प्रयोग किए ये सारे प्रयोग असफलता के कगार पर वर्तमान बिंदु में उपस्थित हो गए हैं। वर्तमान समय में कोई भी ऐसी धर्मनैतिक या राजनैतिक संस्था नहीं है जो झेलने के अलावा अपने को सफल बनाने के साहस को संजोये हुए हो अथवा सफलता के प्रमाण प्रस्तुत कर सकती हो। इतने वृहद् पैमाने के परामय संशंकता एवं भय की छाया में अपने संकीर्ण तथा संकीर्णतम दायरे में जनबल एवं युद्ध सामग्री के बल पर अपने को सुरक्षित करने की तैयारियों में संलग्न मानव जाति को इस विश्वव्यापी संकट से उबारने हेतु मध्यस्थ दर्शन। सहअस्तित्ववाद उदय हो गया है।

एक ऐसी मूल प्रस्तावना को जो वस्तुगत सत्यता के रूप में है, उद्घाटित कर सभी अज्ञ-विज्ञ को बोधगम्य बनाकर निश्चित परिमार्जित नियम एवं प्रक्रिया संबद्ध संभावना एवं आशा का निर्माण मध्यस्थ दर्शन करता है, यह विस्मयकारी प्रक्रिया है 'मध्यस्थ सत्ता', 'मध्यस्थ क्रिया' एवं 'मध्यस्थ जीवन' दर्शन की प्रस्थापना है कि यह मध्यस्थ क्रिया ही समविषम दोनों को नियंत्रित करती है। इस संदर्भ में हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि सम क्रिया एवं विषम क्रिया दोनों आवेशित होना पाया जाता है। इन दोनों क्रियाओं को नियंत्रित करने वाली तीसरी क्रिया के न होने की स्थिति में सम या विषम को आवेशित होने के अनंतर पुनः आवेशित ही होना था, परंतु इसके विपरीत हम प्रत्यक्ष में सम-आवेश व विषमातिरेक अथवा विषम आवेश दोनों को सामान्य होता हुआ देखते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे सामान्य बनाने वाली - आत्मसात् करने वाली, नियंत्रित करने वाली कोई तीसरी क्रिया है ही।

इस परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए मध्यस्थ दर्शन एक इकाई में अर्थात् एक परमाणु में सम-विषम-मध्यस्थ इन तीनों क्रियाओं के सम्मिलित रूप में रहने की सत्यता को स्पष्ट करता है, जिसके प्रभाव में इकाई को गठनपूर्वक इकाई बताया है। एक गठन के लिए एक से अधिक अंशों का रहना भी आवश्यक बताया है। इस निर्विवाद तथ्य के आनुषंगिक प्रत्येक गठन के मध्य में स्थित अंश को मध्यांश की संज्ञा प्रदान करते हुए उसी अंश की जो क्रिया है उसे ही मध्यस्थ क्रिया बताया गया है तथा उसी के सभी ओर घूमने वाले जितने भी अंश हैं उन्हें सम या विषम क्रिया की संज्ञा से निरूपित किया है, जिसका अध्ययन भौतिक एवं रसायन शास्त्र भली प्रकार से करा देता है। वर्तमान में इस संदर्भ में जो शिक्षा उपलब्ध है तथा उसमें सम और विषम का जो ज्ञान कराया जा रहा है उसे मध्यस्थ दर्शन स्वीकार करता है। अतएव इस दर्शन से सम-विषम क्रियाओं की विशद चर्चा न करते हुए मध्यस्थ क्रिया एवं उसकी गरिमा पर ही विषद रूप में अपनी चर्चा को केंद्रित किया है। उसका यह दावा है कि मध्यस्थ क्रिया पर सम विषम का प्रभाव नहीं पड़ता

और सम्भवतः भौतिक विज्ञान भी इसी की पुष्टि करता है। मध्यस्थ क्रिया है इसलिए मध्यस्थ शक्ति है और इसीलिए ही सम और विषम का प्रभाव निष्प्रभावी हो जाता है। सामान्यतः हम यह भी देखते हैं कि दुर्बल, बलवान के सामने निष्प्रभावी हो ही जाता है अथवा दुर्बल बलवान पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। यह एक सर्वविदित तथ्य है। इसी प्रकार मध्यस्थ क्रिया पर अर्थात् मध्यान्श पर उसके आश्रितांश के सम और विषम का उस पर प्रभाव न पड़ने का प्रमाण स्वयं में यह सिद्ध कर देता है कि मध्यस्थ क्रिया सम और विषम क्रिया की अपेक्षा में अत्यंत बलशाली है।

इकाई अर्थात् परमाणु के इन्हीं तथ्यों के आधार पर मनुष्य के जीवन के कार्यक्रम में मध्यस्थता का अनुसरण ही वस्तुगत सत्य तथा वस्तुस्थिति के सत्य के संदर्भ में किये गए अध्ययन का प्रधान लक्षण है। इस परिप्रेक्ष्य में अनेकानेक पद्धतियों से पुष्टि सहित विश्लेषण करते हुए मध्यस्थ दर्शन मनुष्य जीवन के कार्यक्रम के संदर्भ में सुस्पष्ट एवं सुदृढ़ आधार रूप मानव जीवन के (१) व्यवसाय (२) व्यवहार (३) विचार तथा अनुभव – इन चार आयामों को स्पष्ट करता है। इन चार आयामों से कम में कोई मनुष्य नहीं है। साथ ही मनुष्य में इससे अधिक भी न होने का दावा यह दर्शन करता है। इसका उद्घोष है कि इन चारों आयामों में किसी एक की भी पुष्टि न होने अथवा इन आयामों की प्राप्ति न होने की स्थिति में ही मनुष्य जीवन के असंतुलित होने की संभावना है। इस प्रकार व्यक्ति के स्तर में चारों आयामों को तृप्त करने योग्य तथा समग्र मानव की – व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अंतरराष्ट्र इन पाँच स्तरों में गणना करते हुए मध्यस्थ दर्शन ने एक स्पष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। व्यक्ति का आचरण मानवीयता से परिपूर्ण होने से ही समृद्धि एवं समाधानपूर्ण होने, परिवार को उसके सहयोग योग्य, समाज को उसके प्रोत्साहन योग्य, राष्ट्र को उसके संरक्षण योग्य तथा अंतरराष्ट्र को उसके अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण योग्य बनाने के लिए योग्य कार्यक्रम प्रस्तुत करना ही मध्यस्थ दर्शन का उद्देश्य है। एक व्यक्ति की सीमा में उसके आचरण को अमानवीयता, मानवीयता एवं अतिमानवीयता के रूप में उसका स्पष्ट विश्लेषण है।

सुदूर विगत से हम मनुष्य के परिभाषीकरण तथा मानवीयता के समीकरण के विषय में जिज्ञासु रहे हैं जिसकी आवश्यकता हमें अभी भी प्रतीत हो रही है। इसे पाने हेतु अनेक प्रयास किए गए परंतु वह अब तक उपलब्ध नहीं थी। इसके प्रमाण में सर्वेक्षण द्वारा मध्यस्थ दर्शन प्रकट करता है कि वर्तमान कार्यक्रम की क्रम शृंखला की परिणति वर्ग का रूप धारण करने में होती है। वर्ग की परिभाषा अपने आप में स्पष्ट है। वर्ग भावना में एक समुदाय की अपेक्षा में दूसरे समुदाय में श्रेष्ठ या नेष्ट, योग्य या अयोग्य की भावनाओं का रहना आवश्यक है। यही सविषम या परस्परता में विषम मूल्य अथवा मूल्य का आरोप वर्ग भावना अर्थात् वर्ग के प्रतिमूल्यों को सुरक्षित करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। फलतः संघर्ष होता है, जिसकी परिणति युद्ध में होती है। मध्यस्थ दर्शन का यह सिद्धांत है कि 'मानव सही में एक और गलती में अनेक है'। हमें निश्चित दिशा में सोचने के लिए बाध्य करता है। इसकी पुष्टि में मध्यस्थ दर्शन ने प्रमाण प्रस्तुत किया है की यदि किसी गणित के प्रश्न का उत्तर सही होता है तो कितने भी लोग उस प्रश्न का उत्तर देने में भाग लें उनका उत्तर एक ही होगा। पर यदि उत्तर गलत है तो प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने ढंग से गलती करने से अनेक उत्तर हो सकते हैं।

अतः व्यक्ति परिवार दो गुट अथवा दो समूह के पारस्परिक वाद विवाद में स्पष्ट स्थिति यह होती है कि या तो एक पक्ष गलत हो अथवा दोनों पक्ष गलती में हों। दोनों सही हों और वाद विवाद हो जाए ऐसा सम्भव नहीं अथवा इसका प्रमाण नहीं है। इस तथ्योद्घाटन से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि जितने भी वाद विवाद, आलोचना, प्रत्यालोचना,

आवेश, आक्रोश, उद्विग्नता अथवा असंतुलन अनुभव में अति हैं। उनके मूल में गलती का होना आवश्यक है। इस संबंध में मध्यस्थ दर्शन ने इस वस्तुगत सत्य को भी निरूपित किया है कि किसी एक लक्ष्य की अपेक्षा में ही हम सही गलत का निर्णय करते हैं और इस लक्ष्य के संदर्भ में जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति की सीमा में लक्ष्य को विकास की ओर इंगित किया है। विकसित होने का तात्पर्य समाधनित होने से है। अतः विकसित हो जाना ही जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति का लक्ष्य है। यही उसका नियति क्रम है। इस प्रकार हमारा लक्ष्य अग्रिम विकास ही रह जाता है और इसी के आधार पर विधि और निषेध का निर्धारण होता है। मानवीयता की अपेक्षा में अमानवीयता गलती या निषेध है। इसी शृंखला में अतिमानवीयता की अपेक्षा में मानवीयता अनावश्यक एवं नगण्य हो जाती है। इस प्रस्तावना के आधार पर विधि-निषेध, आवश्यक-अनावश्यक, उचित-अनुचित, वांछनीय-अवांछनीय, सदुपयोग-दुरुपयोग आदि समस्याओं का समाधान उपलब्ध हो जाता है।

मध्यस्थ दर्शन यह प्रतिपादित करता है कि जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति का लक्ष्य तीन स्तरों में पूर्ण होता है जो वस्तुगत तथा वस्तुस्थिति है। प्रत्येक इकाई में पाए जाने वाले श्रम, गति तथा परिणाम को जो देखा जाता है, उनमें से परिणाम अमरत्व के स्तर पर इकाई में प्रत्यक्ष होता है। अमरत्व का तात्पर्य रासायनिक द्वंदों से मुक्त हो जाना। ऐसी इकाइयाँ अर्थात् परमाणु गठन की पूर्णता को प्राप्त कर चैतन्य हो जाती है। चैतन्य हो जाने के अनंतर ही अग्रिम विकास की शृंखला में सतर्कता एवं सजगता को पा लेता है। मध्यस्थ दर्शन ने विकास की इन तीन स्थितियों को लोकगम्य बना दिया है क्योंकि यह एक वस्तुस्थिति सत्य है। स्थिति में जो भी है उसी को सत्य की संज्ञा से मध्यस्थ दर्शन ने इंगित किया है। इस प्रकार विकास के क्रम में पहली मंजिल अमरता को, दूसरी सतर्कता को, तथा तीसरी सजगता को बताया गया है।

अमरत्व तो गठन की पूर्णता के साथ ही सिद्ध हो जाता है। परंतु सतर्कता की पूर्णता मानवीयता की सीमा में ही सिद्ध होती है। इसके साक्षी-स्वरूप यह प्रमाण दिया गया है कि मनुष्य में भी मानवीयतापूर्ण जीवन की स्थापना पर्यंत भय का अभाव नहीं है। भय से मुक्ति पाने के लिए ही हम सतर्कता को बर्तते हैं, जो सामान्यतः दिखाई देने वाला तथ्य है। यही क्रिया की पूर्णता का द्योतक है अथवा प्रमाण है। इस स्थिति को पाने तक मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। मानवीयता से परिपूर्ण हो जाने के उपरांत ही व्यक्ति सामाजिकता के सीमा में स्वतंत्र होता है और फलतः उसके अग्रिम विकास की आवश्यकता की उत्पत्ति हो जाती है जिसके कारण वह आगे विकसित होने के लिए बाध्य हो जाता है। मानवीयता से विकसित होकर अतिमानवीयता से परिपूर्ण होने तक मनुष्य अभ्यास करता रहता है। इस प्रकार सहअस्तित्ववादी दर्शन ने क्रिया की पूर्णता की सीमा को अपेक्षाकृत विकसित के रूप में उद्घाटित करते हुए आचरणपूर्णता को स्व-सापेक्ष बताया है इसके प्रमाण में यह बताया गया है कि प्रत्येक इकाई में पाया जाने वाला स्वभाव ही आचरण के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार मध्यस्थ दर्शन ने स्वतंत्रता की सीमा को स्पष्ट करते हुए मानव मात्र को सचेत कर दिया है।

मध्यस्थ दर्शन ने व्यक्ति के आचरण को मानवीयता की सीमा में ही आर्थिक समृद्धि एवं बौद्धिक समाधानपूर्वक सुलभ होने की सत्यता को प्रतिपादित किया है, जिसका एक स्वस्थ परंपरा होने की अनिवार्यता व संभावना को स्पष्ट किया है। मानव द्वारा निपुणता एवं कुशलतापूर्वक पद्धति से भौतिक समृद्धि को पाने का, न्यायपूर्ण व्यवहार से अखंड सामाजिकता को पाने का तथा धर्मपूर्ण विचार से बौद्धिक समाधान को पाने का दावा मध्यस्थ दर्शन ने किया है,

जिसके लिए पर्याप्त पुष्टियुक्त प्रक्रिया तथा व्यवहारगम्य होने योग्य रीति को स्पष्ट किया है। मनुष्य को सुखधर्मी प्रतिपादित करते हुए वैचारिक सुख और दुःख तथा व्यावहारिक सुख और दुःख को भी स्पष्ट किया गया है। वैचारिक सुख-दुख का विश्लेषण करते हुए यह बताया गया है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों की दो शृंखलायें हैं। प्रत्येक शृंखला में पाँच पाँच मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख है। प्रथम शृंखला में पायी जाने वाली मूल प्रवृत्तियों से सुख परिपाक दूसरी से दुःख परिपाक के क्रम नियम को उद्धाटित किया है जो मनोविज्ञान के संदर्भ में पूर्णता की ओर प्रेरणादायी स्रोत है। दुःख परिपाकात्मक शृंखला में संग्रह, द्वेष, अज्ञान, अभिमान तथा भय की प्रवृत्तियों को बताया गया है। इन प्रवृत्तियों के मूल में जितने भी विचार हैं, वे सब भय जन्य हैं अर्थात् भयादि में, से, के लिए ही इन विचारों का उद्गम है। इसी प्रकार सुख परिपाकात्मक शृंखला में असंग्रह, स्नेह, विद्या, (निर्भ्रम ज्ञान) सरलता एवं अभयता को बताया है। इन्हें ही वैचारिक सुख और दुःख का कारण प्रतिपादित करते हुए पर्याप्त पुष्टियुक्त प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं।

मध्यस्थ दर्शन की यह भी प्रस्थापना है कि काम और क्रोध दोनों आवेशी तत्व हैं। आवेश के लिए विदेशी शक्ति या तत्व का आक्रमण या प्रहार आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कामुकता पर आधारित मूल प्रवृत्ति एवं उसी के आश्रित संवेगों को बताने वाले मनोवैज्ञानिकों की गहराई कितनी है। मध्यस्थ दर्शन का यह दावा है कि अग्रिमता के लिए प्रयुक्त वैचारिक शक्तियाँ ही प्रवृत्तियाँ हैं। अग्रिमता विकास के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ ही स्वयं में जीवन की गति हैं। प्रवृत्तियों के संदर्भ में जैसा और जितना ऊपर बताया गया है उससे अन्यथा नहीं पाया जा रहा है। कम ज्ञान के अभाव में अध्ययन पूर्ण नहीं हुआ रहता है। मनुष्य जीवन की अग्रिमता के विषय में बताया गया है कि अमानवीयता से मानवीयता, मानवीयता से अतिमानवीयता ही अग्रिम विकास है।

दूसरी पद्धति से यह भी स्पष्ट किया गया है कि पशु मानव से राक्षस मानव, राक्षस मानव से मानव, मानव से देव मानव तथा देव मानव से दिव्य मानव विकासपूर्ण है। इसके लिए व्यक्ति की सीमा में आचरण हेतु, परिवार की सीमा में आचरण के सहयोग की निरंतरता हेतु, समाज की सीमा में उसके प्रोत्साहन योग्य प्रकाशन, प्रचार एवं प्रदर्शन कार्य हेतु, राष्ट्र की सीमा में उसके संरक्षण एवम् संवर्धन योग्य विधि, व्यवस्था एवम् शिक्षा प्रणाली हेतु तथा अंतर्राष्ट्रीय सीमा में उसके अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण हेतु योग्य कार्यक्रम को मध्यस्थ दर्शन में प्रस्थापित किया है। समग्र मनुष्य के प्रति कार्यक्रम को प्रस्तावित करते हुए उस सहस्तित्ववाद मौलिक तथ्य को प्रस्थापित किया है जो अनुपम अभिनव एवम् अनिवार्यतम सिद्ध होता है।

ऊपर बताया गया है कि मनुष्य का ऐसा कोई क्रियाकपाल नहीं है जो आर्थिक, राजनैतिक एवं धर्मनैतिक सीमाओं से संबद्ध न हो। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि अंततोगत्वा प्रत्येक कार्य एवम् कार्यक्रम का व्यक्ति की सीमा में तृप्ति-प्रदायी होना अनिवार्य है, क्योंकि व्यक्ति की सीमा में ही आचरण होता है तथा आचरण ही व्यक्तित्व, प्रतिभा तथा कार्यशीलता की क्षमता को प्रकट करता है जो शिक्षा और व्यवस्था का प्रत्यक्ष रूप है। ऐसे आचरण से प्रत्येक व्यक्ति समृद्धि, सहअस्तित्व, समाधान एवम् आनंद का अनुभव करना चाहता है। इसी क्रम से मनुष्य के व्यवसाय, व्यवहार, विचार एवम् अनुभूति इन चारों आयामों की उपलब्धियाँ एवम् तृप्तियाँ हैं। इन स्पष्ट आयामों सहित संपूर्ण स्तरों में एक सूत्रात्मक कार्यक्रम को निर्धारित करने के हेतु मानवीयता की सीमा को स्पष्ट कर दिया गया है। अमानवीयता की सीमा में समाजिकता की असंभावनाओं को प्रतिपादित करते हुए यह दर्शन मानवीयता की सीमा में ही अखंड सामाजिकता की संभावना बताते हुए उसके उपयुक्त कार्यक्रम को निर्धारित करता है। मनुष्य की भौतिक

समृद्धि के संदर्भ में अधिक उत्पादन व कम उपभोग करने की क्षमता एवम् संयमता को जन सामान्य में होने की संभावना बतायी गई है। व्यवसाय मूल्यों के निर्धारण के परिपेक्ष्य में यह दर्शन प्राकृतिक ऐश्वर्य पर प्रस्थापित करने वाली उपयोगिता एवं सुन्दरता के सुदृढ़ आधार श्रम नियोजन के आनुपातिक क्रम से प्रत्येक उत्पादित वस्तुओं का अपेक्षाकृत मूल्य निर्धारणपूर्वक श्रम विनिमय पद्धति की अनिवार्यता व संभावना को स्पष्ट किया है, उद्धाटित करता है। इस सुदृढ़ आधार पर मूल्यों के निर्धारण के असंदिग्ध रूप में निर्णित होने की संभावना उत्पन्न हो जाती है। इन मौलिक आधारों पर एक स्वस्थ अर्थव्यवस्था उन्नयन संभव हो गया है।

मूल पूँजी श्रम के संदर्भ में मध्यस्थ दर्शन निपुणता, कुशलता एवं पांडित्य की वस्तुगत सत्यता की ओर ध्यान को आकर्षित करता है। श्रम नियोजन के प्रतिफल, जिसे मज़दूरी कहा जाता है, के निर्धारण के संदर्भ में उसे उत्पादन कार्य क्षमता हस्त लाघव आवश्यकता, साधन संभावना व समय पर उत्पादन की तादात पर आंके जाने का एक निरबाध तथ्यपूर्ण मार्ग प्रशस्त कर देता है जिससे मज़दूर और मज़दूरी के मध्य में पाये जाने वाले असंतोष, अत्याशा एवं शोषण के स्थान पर निर्णयात्मक संतुष्टि, संयम व नियंत्रण पाने का स्वस्थ मार्ग प्रशस्त हुआ है जो प्रत्येक स्तर में व्यावहारिक एवम् अनिवार्यतम है। जिस पद्धति को प्रत्येक व्यक्ति में स्वमूल्यांकन योग्य क्षमता को शिक्षा व शिक्षण द्वारा स्थापित करने और उनमें अधिक उत्पादन कम उपभोग योग्य अधिकार निर्माण करने की नीतियों पर आधारित किया गया है। अस्तु यह एक अवसर है हम मध्यस्थ दर्शन सहस्तित्ववाद को अध्ययन अवगाहन एवं हृदयंगम करें और विकल्प को पाकर स्वर्गीयता का अनुभव करें।

6. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ६)

सत्ता मध्यस्थ है – व्यापक है। प्रकृति सम-विषम और मध्यस्थ क्रिया है, सीमित है। इसलिए सत्ता स्थिति पूर्ण है।

प्रकृति स्थिति शील है इसलिए सत्ता में प्रकृति समाई हुई है। अतः सत्ता में प्रकृति ओत-प्रोत है। अस्तु सत्ता में प्रकृति संपृक्त है। इसलिए ही प्रकृति पूर्णतया ऊर्जामय है। अस्तु प्रकृति क्रियाशील है। अतः प्रकृति श्रम, गति एवं परिणाम के लिए बाध्य है। फलस्वरूप प्रकृति ही चार अवस्थाओं में प्रत्यक्ष है। इसलिए सत्ता में प्रेरित प्रकृति उसका अनुभव करने की क्षमता, योग्यता एवं पात्रता से सम्पन्न होने पर्यंत विकासशील है। फलतः परिणाम का अमरत्व (अंतिम परिणति), श्रम का विश्राम एवं गति का गंतव्य, वस्तुस्थिति, वस्तुगत एवं स्थिति सत्य के रूप में प्रत्यक्ष है।

सत्ता मध्यस्थ है। इसलिए मध्यस्थ सत्ता में संपृक्त प्रकृति नियंत्रित एवं संरक्षित है। प्रत्येक परमाणु में पाया जाने वाला मध्यांश (नाभिक) मध्यस्थ क्रिया है। इसलिए सम-विषमात्मक क्रियाएँ एवं सापेक्ष शक्तियाँ नियंत्रित व संरक्षित है।

अनंत क्रिया अथवा क्रिया समूह ही प्रकृति है, जो जड़ और चैतन्य के रूप में गण्य है। जड़ प्रकृति ही विकासपूर्वक चैतन्य पद को पाती है। मनुष्य जड़ और चैतन्य का संयुक्त रूप है। साथ ही प्रकृति का अंश भी है।

विकास के क्रम में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचारणपूर्णता है।

मनुष्य कम विकसित प्रकृति के साथ व्यवसायपूर्वक उपयोग, उपभोग, शोषण एवं पोषण करता है। मनुष्य-मनुष्य के साथ व्यवहार, अधिक विकसित के साथ गौरव करने के लिए बाध्य है, अधिक विकास के लिए अभ्यास करता है।

“मनुष्य ही कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय परतंत्र है।”

इस पृथ्वी पर मानव अधिक विकसित है। उसे विकासपूर्ण होने का अवसर, वांछा एवं संभावना प्राप्त है। अधिक विकसित होने के कारण कम विकसित का सहायक होना उसका प्रधान लक्षण है।

पदार्थावस्था से प्राणावस्था विकसित, प्राणावस्था से जीवावस्था विकसित तथा जीवावस्था से भ्रांत ज्ञानावस्था का पशुमानव विकसित। भ्रांत ज्ञानावस्था के पशु मानव से भ्रांत राक्षस मानव विकसित, भ्रांत राक्षस मानव से भ्रांताभ्रांत मनुष्य विकसित तथा भ्रांताभ्रांत मानव से निर्भ्रांत देव मानव विकसित है। निर्भ्रांत देवमानव से दिव्यमानव विकासपूर्ण है।

ज्ञानावस्था की इकाई दर्शन करती है। दर्शन, जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति के संदर्भ में है। सत्ता में ज्ञान होता है। निर्भ्रम अवस्था में ही ज्ञान व दर्शन पूर्ण होते हैं। इसलिए निर्भ्रमता ही प्रबुद्धता, प्रबुद्धता ही प्रभुता, प्रभुता ही सत्ता। सत्ता ही नियम, न्याय, धर्म एवं सत्य है। यही मध्यस्थ एवं सत्ता है।

“मनुष्य ही मनुष्य के हास व विकास में प्रधानतः सहायक है।”

मध्यस्थ दर्शन

1. मध्यस्थ दर्शन सत्ता में संपृक्त प्रकृति के परिणाम में अमरत्व, श्रम के विश्राम एवं गति के गंतव्य का निर्भ्रम रूप में विधिवत बोध सुलभ कराता है।
2. उसकी (प्रकृति) विधिवत प्रक्रिया के आनुषंगिक प्रकृति का विषम एवं इतिहास स्पष्ट होता है।
3. प्रकृति के विकास एवं इतिहास के तारतम्य में स्पष्टीकरण यह है कि –

मानव की परिभाषा

मानवीयता की व्याख्या, मानव जीवन का कार्यक्रम, मनुष्य के चारों आयाम (व्यवसाय, व्यवहार, विचार एवं अनुभूति), जीवन की पांचों स्थितियाँ (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्र) में सार्वभौमिक रूप में इनकी सीमा, कर्तव्य एवं दायित्व निर्धारित होता है। यही सामाजिक अर्थ-व्यवस्था को प्रस्तावित करता है जो स्वयं में विधि एवं व्यवस्था है। इसी के फलस्वरूप मानव, मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध होता है। फलतः –

1. प्रत्येक व्यक्ति मानवीयता की सीमा में आचरण करने, अतिमानवीयता की ओर प्रयास करने के लिए बाध्य होता है।
2. प्रत्येक परिवार मानवीयता की सीमा में सहयोगी बनने, समाज मानवीयता की सीमा में प्रोत्साहन एवं उत्साह प्रदान करने, प्रत्येक राष्ट्र मानवीयता की सीमा में संरक्षण एवं संवर्धन करने तथा अंतर्राष्ट्र मानवीयता की सीमा में उसके अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए बाध्य होता है।

कृतज्ञता

उन सभी सुपथ प्रदर्शकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, जिससे आज भी यथार्थता के स्रोत जीवित हैं। कृतज्ञता विकास की ओर प्रगति के लिए मौलिक मूल्य है। कृतज्ञता ही मूलतः संस्कृति व सभ्यता का आधारग्राही व संरक्षक मूल्य है।

जो कृतज्ञ नहीं है वह संस्कृति व सभ्यता का वाहक बनने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता। जो संस्कृति व सभ्यता का वहन नहीं करेगा वह विधि एवं व्यवस्था का पालन नहीं करेगा।

संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था परस्पर पूरक हैं। इनके बिना समाज तथा सामाजिकता का निर्धारण संभव नहीं है। अस्तु कृतज्ञता के बिना गौरव, गौरव के बिना सरलता, सरलता के बिना सहअस्तित्व, सहअस्तित्व के बिना कृतज्ञता की निरन्तरता नहीं है।

जो मनुष्य कृतज्ञता को वहन करता है, उसी का आचरण अग्रिम पीढ़ी के लिए शिक्षाप्रद एवं प्रेरणादायी है। यह मानवीयता की सीमा में ही सफल है।

॥ ज्ञानात्मनोर्विजयते॥

7. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ७): 'चैतन्य प्रकृति का रहस्य उद्घाटन'

चैतन्य के संबंध में अनेकानेक कल्पनाएं की गई हैं। भौतिकवादियों ने रासायनिक प्रक्रिया की सीमा में ही चैतन्य पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास किया। उनके अनुसार मेधस से ही सभी कार्य संपन्न होता है, या मेधस ही चैतन्य क्रियाकलापों को संपन्न करता है, अर्थात् मेधस ही चैतन्य है। इस संदर्भ में 'मध्यस्थ दर्शन' एक अभूतपूर्व प्रस्थापना प्रस्तुत करता है जो सार्वभौमिक रूप में प्रेरणादायी है। उसने चैतन्य को क्रिया बताया है। वास्तव में तो शायद भौतिकवादियों की भी यही मंशा, मान्यता है परंतु मध्यस्थ दर्शन ने इस क्रिया को गठनपूर्णता से संपन्न परमाणु बताया है जबकि मेधस अनेक अंशों का उसका संयुक्त रचना है। मध्यस्थ दर्शन प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु है। प्रत्येक गठन में एक से अधिक अंशों का रहना आवश्यक है। अंश और गठन से तात्पर्य है, जिसमें आकार आयतन एवं घनता का प्रकटन है। क्रिया के संदर्भ में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जिसमें गति और संवेदना संकेत ग्राही व प्रसारण क्षमता हो, ऐसी अनंत क्रिया समूह ही प्रकृति है। संपूर्ण प्रकृति सत्ता में समाई हुई है, फलतः सत्ता में संपृक्त है। इसलिए सत्ता को प्रकृति का मूल आधार बताते हुए प्रकृति एवं सत्ता के सहअस्तित्व को भी बताया गया है। मध्यस्थ दर्शन का दावा है कि प्रकृति एवं सत्ता को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्ताविहीन स्थान नहीं है। फलतः प्रकृति को अविरत क्रियाशील बताया गया है।

मध्यस्थ दर्शन ने परमाणु के गठन के संदर्भ में बताया है कि प्रत्येक गठन में मध्य भाग है तथा उस मध्य भाग में अवस्थित अंश को मध्यांश की संज्ञा से इंगित कराया गया है। मध्यांश के सभी ओर एक या एक से अधिक परिवेश में एक या एक से अधिक अंश वर्तुलाकार में मध्यांश का चक्कर लगाने में क्रियाशील रहते हैं। इन परमाणुओं में पाए जाने वाले अंशों की स्वतंत्र गति नहीं होती है। इसके साक्षी स्वरूप बताया गया है कि किसी भी गठन में निहित अंश तब तक उस गठन की सीमा से अलग नहीं हो सकता, जब तक वह दूसरे किसी से क्षुब्ध नहीं हो जाता। क्षुब्ध होने के बाद, चाहे परमाणु हो या अंश वह अस्वाभाविक गति को प्राप्त करता है। इस अस्वाभाविक गति को शक्ति के नाम से गणना की गई है। यही सापेक्ष शक्तियां हैं।

इसी तारतम्य में आगे यह स्पष्ट किया गया है कि परमाणु, अपने में जितने अंश समा जाने की संभावना रखता है, उन सभी के समा लेने के बाद रासायनिक क्रिया अर्थात् प्रस्थापन विस्थापन घटना क्रम से मुक्त हो जाता है। यही गठन की पूर्णता है जो उसे चैतन्य पद प्रतिष्ठा प्रदान करती है। इस कारणवश उसमें जो वर्तुलात्मक गति रहती है उसकी अपेक्षा में कम्पन्नात्मक गति अधिक हो जाती है और फलस्वरूप तत्काल ही आशा का प्रकटन आरंभ हो जाता है। यही चैतन्य परमाणु अपनी लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई से अधिक स्थान में संयत रूप से कार्यरत होता है और फलतः एक पुंजाकार में अवस्थित होता है। प्रत्येक पुंजाकार किसी न किसी जीव का आकार होता है। उस आकार के मेधसयुक्त जीव शरीर को वह पुंजाकार में अवस्थित चैतन्य परमाणु अपनी आशानुरूप संचालित करता है। जब तक वह जड़ शरीर संचालन योग्य यंत्र बना रहता है, तब तक वह चैतन्य परमाणु उसे संचालित करता है, उसके बाद उससे अलग हो जाता है। इस प्रकार रासायनिक क्रिया प्रक्रिया की सीमा में पाया जाने वाला शरीर एक यंत्र के रूप में चैतन्य इकाई के लिए प्राप्त होता है और विलय होता है। यही जन्म-मरण की प्रक्रिया है।

इस दर्शन ने रासायनिक और भौतिक परिणामकारी सीमा को जड़ प्रकृति की संज्ञा से संबोधित किया है। जड़ प्रकृति विकासपूर्वक ही गठनपूर्णता को प्राप्त होने पर चैतन्य पद को प्राप्त करने की प्रक्रिया को स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है। ऐसी चैतन्य क्रिया आशा, विचार, इच्छा, संकल्प का परिवर्तन एवं परिमार्जनपूर्वक ही अनेकानेक जीव शरीरों के माध्यम से तथा उसकी के आनुषंगिक मनुष्य शरीर के माध्यम से ही उसकी आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प को प्रकट करती है जो वस्तुगत सत्य है। इस वस्तुगत सत्य द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का मूलभूत रूप आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति ही है, जिसे प्रत्येक मनुष्य अपने में ही देखता है।

जड़ शरीर का संचालक चैतन्य क्रिया के होने के ठोस प्रमाण रूप में मध्यस्थ दर्शन प्रस्तुत करता है कि जड़ शरीर जो कुछ भी आहार, वायु आदि के रूप में ग्रहण करता है उसमें से शरीर अपने लिए आवश्यक को आत्मसात कर अनावश्यक को बहिर्गत करता है। इस आत्मसात किए पदार्थ में किसी न किसी रूप अथवा मात्रा में शक्ति है। पाई हुई शक्ति की अपेक्षा में मनुष्य से अत्याधिक अनुपात में शक्तियाँ बहिर्गत होती हैं। जो अधिक मात्रा में शक्ति बहिर्गत होती है वह पूरी चैतन्य क्रिया की ही शक्ति है जो आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प का प्रभाव है, जिसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को भी अनेक प्रकार के साधनों को प्रदान करते हुए देखा जाता है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में यह भी देखता है कि शरीर में जितने भी रासायनिक द्रव्यों का सम्मेलन है वह सब भौतिक रचना एवं यांत्रिकता की क्षमता है। यांत्रिकता क्षरणशीलता से रिक्त मुक्त नहीं है। उनमें से एक भी आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प नहीं प्रकाशित होती। साथ ही यह भी देखा जाता है कि ऐसे शरीर द्वारा ही आशा आदि प्रकट होती है जिसे नकारने की योग्यता विज्ञ पुरुषों में नहीं है। इस संदर्भ में मध्यस्थ दर्शन स्पष्ट करता है कि माध्यम और प्रभाव का संबंध स्पष्ट रहता है— जैसे बिजली और यंत्र का। यंत्रविहीन स्थिति में सापेक्ष शक्तियों का परिचय संभव नहीं हुआ है। इसी तारतम्य में भौतिक शरीर को चैतन्य क्रिया का माध्यम बताया गया है। किसी भी माध्यम में स्वभावगत शक्ति से, अधिक का प्रकटन उससे भिन्न शक्ति का ही होगा। शरीर में जो स्वभावगत शक्तियाँ हैं वे रासायनिक एवं भौतिक सीमा में सीमित रहने के कारण इनमें आशा आदि के प्रकटन की सम्भावना ही नहीं है। अतः इनके प्रकटन का आधार चैतन्य क्रिया ही हो सकती है।

अतः मध्यस्थ दर्शन ने प्रतिपादित किया है कि आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति चैतन्य क्रिया का स्वत्व है। जब जड़ चैतन्य होता है तब दो मौलिक उपलब्धि की प्राप्ति बताई गई है (1) गठन की पूर्णता होना एवं (2) कम्पन्नात्मक गति का वर्तुलात्मक गति की अपेक्षा में अधिक हो जाना। इन दोनों का एक साथ घटित होना ही चैतन्य हो जाना है। चैतन्य और जड़ दोनों ही क्रियायें हैं। इस संदर्भ में मध्यस्थ दर्शन का यह भी दावा है कि हास और विकास केवल परमाणु की सीमा में ही पाया जाता है, न कि अणु एवं रचना में इस तथ्य का उद्घाटन मानव जन-जीवन के चिंतन हेतु एक मौलिक कोण प्रदान करता है जिससे जड़ और चैतन्य की निश्चित रेखा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार मध्यस्थ दर्शन में परमाणु एवं उसमें पाये जाने वाले अंशों की अपेक्षा में सूक्ष्म तत्व को स्पष्ट कर दिया है।

प्रत्येक जीवन में यह देखा जाता है कि विदेशी शक्ति के प्रभाव के बिना किसी में आवेश उत्पन्न नहीं होता। प्रमाणतः पत्थर को जब तक फेंका नहीं जाता उसमें त्वरण का आवेश नहीं पाया जाता। जीवों में भी वैषयिक प्रभाव के बिना आवेश नहीं पाया जाता। मनुष्य शरीर भी विचार के बिना आवेशित नहीं पाया जाता। अतः यह प्रत्यक्ष है कि एक

परमाणु से लेकर बड़ी से बड़ी इकाई तक में अपनी स्वभावगत गति से अधिक गति के लिए विदेशी शक्तियों का आरोपण आवश्यक है परंतु मध्यस्थ दर्शन ने विकास के संदर्भ में यह मूल सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि इकाई की गति ही सापेक्ष शक्तियाँ हैं। ऐसी शक्ति का अंतर्नियोजन ही विकास है तथा बहिर्गमन ही ह्रास। यह सिद्धांत इस वस्तुगत रूप में स्पष्ट झलकता है कि हम जितने भी बाह्य अन्य के आश्रित आधार, आधेय, अपेक्षा आदि द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं में रत होते हैं उतने ही थक जाते हैं। इसके विपरीत में हम देखते हैं कि स्वयं में ही जीने अथवा जीवमूलक क्रियाकलाप का अभ्यास करने पर कभी नहीं थकते। स्वयं द्वारा स्वयं का निरीक्षण करना एवं अनुसरण करना ही अंतर्नियोजन का तात्पर्य है। यही सतर्कता है।

इस तारतम्य में मध्यस्थ दर्शन ने स्पष्ट किया है कि चैतन्य क्रिया में पाई जाने वाली पाँच क्रियायें आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति हैं। ये पाँचों क्रियायें क्रमशः मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवं आत्मा शक्तियाँ हैं। यही प्रकट होती हैं। इन्हीं पाँचों क्रियाओं के सम्मिलित रूप को ही एक चैतन्य परमाणु बताया गया है। चैतन्य परमाणु में स्वयं के निरीक्षण के संदर्भ में बताया गया है कि वृत्ति मन का निरीक्षण करती है तथा मन वृत्ति में समर्पित होता है अर्थात् उसके संकेतों को ग्रहण करने के लिए तत्पर होता है। इसी प्रकार चित्त वृत्ति का निरीक्षण करता है, वृत्ति चित्त में समर्पित होती है, बुद्धि चित्त का निरीक्षण करती है, चित्त बुद्धि में समर्पित होता है एवं आत्मा बुद्धि का दृष्टा है तथा बुद्धि आत्मा में समर्पित होता है। यही पूर्ण विकास है जिसके फलस्वरूप मनुष्य मध्यस्थ जीवन में सम्पन्न होता है।

इसकी अनिवार्यता एवं उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि व्यवसाय काल में नियम, व्यवहार काल में न्याय, विचार काल में धर्म एवं अनुभव काल में सत्यमयता में प्रकट करने व अनुभव करने योग्य मनुष्य होता है। इस तथ्योद्घाटन से मनुष्य के जीवन में शक्ति के अंतर्नियोजन का तात्पर्य सर्वविदित होता है जो आचरण मानव से चिरकाल से वांछित भी है। इसको सर्वसुलभ बनाने के संदर्भ में ही गठन की पूर्णता, क्रिया की पूर्णता एवं आचरण की पूर्णता को स्पष्ट किया गया है। अंतर्नियोजन प्रक्रिया से प्राप्त नियोजन ही आचरण की पूर्णता है, जबकि क्रिया की पूर्णता मानवीयतापूर्ण जीवन में है, जो अध्ययन से सुलभ होता है। जिसका स्पष्टीकरण अपेक्षाकृत या समग्र की अपेक्षाकृत पद्धति से किया गया है।

मध्यस्थ दर्शन ने परमाणु के मध्य भाग में अवस्थित अंश को आत्मा के नाम से भी इंगित किया है एवं उसकी क्रिया को मध्यस्थ क्रिया बताया है। इसकी साक्षी में यह निरूपित किया है कि उसमें या उस पर सम-विषमात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है। इस स्पष्ट निराकरण से हमें यह ज्ञान प्राप्त होता है कि आत्मा सम-विषमात्मक द्वंद्वों से निष्प्रभावी या अलिप्त रहता है। मध्यस्थ क्रिया (आत्मा) की गरिमा को बताते हुए यह भी स्पष्ट किया गया है कि आत्मा के संकेतों को ग्रहण करने योग्य क्षमता, योग्यता एवं पात्रता के निर्माण होने तक सभी आश्रित अंश विकास के लिए बाध्य हैं। पुनः आश्रित अंशों की स्थिति एवं संबंध को स्पष्ट करते हुए मध्यान्श के प्रथम परिवेश में पाये जाने वाले अंशों को बुद्धि, द्वितीय परिवेश में पाये जाने वाले अंशों को चित्त, तृतीय परिवेश में पाए जाने वाले अंशों को वृत्ति तथा चतुर्थ परिवेश में पाये जाने वाले अंशों को मन की संज्ञा से इंगित कराया गया है।

यह उद्घाटन मानव जन जाति के लिए एक देन है जो स्व के संदर्भ में अस्पष्ट अंतराल को स्पष्ट कर देता है तथा स्व-संबंधी वाद विवाद एवं अनेक शंकाओं का समाधान करता है, जो चिरकाल से मानव की वांछा है इसके आधार पर

ही आचरण से परिपूर्ण चैतन्य इकाई अर्थात् गठन परिपूर्ण चैतन्य परमाणु के गठन में समाए हुए अंशों के 122 आचरणों को इस दर्शन ने स्पष्ट किया है जिनमें आत्मा के दो (2), बुद्धि के चार (4), चित के सोलह (16), वृत्ति के 36, तथा मन के 64 आचरण हैं। भौतिक शास्त्रियों ने भी अनुसंधान पूर्वक परमाणु एवं उसके अंशों के संबंध में जो सूची प्रस्तुत की है अथवा प्रक्रिया को बताया है उसमें भी 122 अंशों अथवा भाग के समाने की संभावना को ही स्वीकारा है। इस प्रकार हमें यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि एक गठन पूर्ण परमाणु में 122 अंश या भाग समाए रहते हैं। तथा ऐसा परमाणु चैतन्य होकर रासायनिक द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है परंतु भौतिक शास्त्रियों के अनुसार ऐसा परमाणु तटस्थ एवं निष्प्रभावी (INERT) हो जाता है जबकि मध्यस्थ दर्शन ने ऐसे परमाणु के संदर्भ में क्रिया की पूर्णता को मानवीयता की सीमा में तथा आचरण की पूर्णता को दिव्य मानवीयता की सीमा में स्पष्ट किया है। चिंतनशील जगत के लिए यह एक परम उपलब्धि है, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए मानव, देव मानव और दिव्य मानव पद को प्राप्त करने का स्पष्ट एवं सुलभ मार्ग प्रशस्त कर देता है।

7. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ७) : दर्शन की महत्ता

“दर्शन शब्द संस्कृत मूलक है। इसका व्यावहारिक अर्थ अथवा सार्थकता दृष्टियों के द्वारा देखने के स्वरूप में दर्शन है।” इसकी तात्त्विक परिभाषा इस प्रकार से है। “दर्शक की दृष्टि के द्वारा दृश्य के साथ किया गया पहचान+निर्वाह की अभिव्यक्ति+संप्रेषण।”

व्यावहारिक परिभाषा – “प्रामाणिकता की धारक वाहकता”।

बौद्धिक परिभाषा – “अस्तित्व में अनुभव (जागृति) पर्यन्त विकास क्रम घटना का विश्लेषण”

- व्यक्ति में दर्शन – अनुभूतियाँ
- परिवार में दर्शन – मानव संचेतनावादी चरित्र
- समाज में दर्शन – सम्बन्ध एवं मूल्यों का निर्वाह
- व्यवस्था में दर्शन – न्याय व विनिमय सुलभता
- शिक्षा में दर्शन – मानव संचेतनावादी व्यवहार शिक्षा+संस्कार+तकनीकी विज्ञान शिक्षण

जो स्वयं आवर्तनशील अर्थव्यवस्था मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान, व्यवहारवादी समाज चेतना का व्यवहार + कर्माभ्यास एवं उसकी निरंतरता

- शास्त्रों में दर्शन – मानव धर्म संस्कार समाधान एवं उसकी निरंतरता।
- तात्त्विक दर्शन – मध्यस्थ दर्शन = मध्यस्थ सत्ता + मध्यस्थ क्रिया + मध्यस्थ जीवन की पहचान + निर्वाह
- तार्किक दर्शन – बौद्धिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक अविभाज्य वर्तमान की पहचान + निर्वाह
- व्यावहारिक दर्शन – समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद, अनुभवात्मक अध्यात्मवाद।

परिभाषायें जब होती हैं तभी उनका ध्यानाकर्षण हो पाता है। दर्शन प्रत्येक मनुष्य में पाई जाने वाली संचेतना में नित्य वर्तमान क्रिया है। जीवन में अर्थात् मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवं आत्मा के अविभाज्य वर्तमान में दृष्टियाँ सहज ही वर्ता करती हैं। जीवन का वैभव शरीर के माध्यम से प्रकाशित होने के सत्य को ध्यान में रखते हुए दर्शन की बात को समझा जा सकता है न कि इन्द्रिय सन्निकर्ष की सीमा में। क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष में भी जीवन संचेतना का वर्तमान रहना अनिवार्य है। दर्शन क्रिया जीवन की सतत होने वाली क्रिया है। इस क्रम में जीवन संचेतना के स्वरूप में पहचानने और निर्वाह करने की निरंतर गति में प्रत्येक मनुष्य में देखा जाता है। तभी दर्शन की प्रामाणिक स्वरूप सार्वभौम हो जाता है। अर्थात्, जिसे पहचाना गया जिसका निर्वाह होने पर अपने आप में प्रमाण सिद्ध हो जाता है। प्रमाण का स्वरूप प्रयोग व्यवहार और अनुभव में सिद्ध होना ही है। प्रयोग और व्यवहार के मूल में भी अनुभव का वर्तमान होना

अपिरहार्य है इस प्रकार अनुभव और उसके वैभव को ही सामान्य रूप में दर्शन की महत्ता को देख पाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में दार्शनिक समानता की संभावना है। उसका प्रखर और उज्ज्वल हो जाना ही शिक्षा का ही वैभव है इसका तात्पर्य यह हुआ कि शिक्षा दर्शन-मूलक है और दर्शन अनुभव-मूलक है जिसका प्रयोजन अर्थात् दर्शन का प्रयोजन व्यवहार है। व्यवहार स्वयं शिक्षा व्यवस्था एवं चरित्र का अविभाज्य वर्तमान है। स्रोत शिक्षा ही है।

दर्शन का मूल रूप अनुभव स्वयं प्रामाणिकता और उसकी निरंतरता है वह अपने आप में अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषणा से वैभवित हुआ करता है। सम्प्रेषणा के क्रम में ही व्यवस्था एवं व्यवहार विन्यासित होता है। विन्यसन का तात्पर्य अनुभूतिपूर्ण भाव, भावपूर्ण भंगिमा एवं भंगिमापूर्ण अंगहार से है। मनुष्य जब अनुभवों से ओत-प्रोत होता है तब अपने आप में स्नेह, प्रेम एवं विश्वासपूर्ण भंगिमा स्वभावतः हो पाता है। स्नेह, प्रेम एवं विश्वास ही मनुष्य-मनुष्य के बीच सुखद स्वरूप है। यही व्यावहारिक समाधान प्रतिष्ठा भी है, जब इनकी सम्प्रेषणा होने लगती है अर्थात्, संबंधों में जब उन्हीं भावों का अर्थात् स्नेह-प्रेम एवं विश्वास का अभिव्यञ्जित होने की स्थिति में दोनों पक्ष एक सा ओत-प्रोत होते हुए देखने को मिलता है इसी सम्प्रेषणा के क्रम में शरीर के अंग-प्रत्यंगों में होने वाली स्थितियाँ मुद्रा भंगिमा के नाम से ख्यात होती हैं। ऐसी अनेक मुद्राएं मिलकर अंगहार होता है। यही सम्प्रेषण विधि का क्रियान्वयन विन्यास है। इस प्रकार अपनी दृष्टि को अपने में या अपने आस-पास में अर्थात् परिवार, पड़ोस देश-विदेश में जितने भी संबंध एवं संपर्क हैं उसके ओर देखने पूर्वक अर्थात् समझदारी के लिये और समझदारी पूर्वक देखने पर पता चलता है कि एक मनुष्य जैसा अनुभवशील है प्रत्येक मनुष्य वैसा ही अनुभवशील है।

अनुभव सत्य में, से एवं के लिये होता है। तात्पर्य अनुभूति और सत्य में अविभाज्यता होती है। सत्य स्वयं में अस्तित्व एवं नित्य वर्तमान और वैभव है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अस्तित्व में अनुभूत होना ही सत्य में अनुभूति का अर्थ हुआ। अस्तित्व जिसका नहीं है जो नहीं है अथवा जैसा नहीं है वह सब भास आभास और प्रतीति हो सकता है। अनुभव नहीं हो सकता। अनुभव अस्तित्व के अतिरिक्त और कहीं नहीं होती न ही होने की व्यवस्था है। यही सत्यता विकास के क्रम में भी देखने को मिलता है कि अस्तित्व में अनुभव होने पर्यन्त विकास का क्रम नित्य प्रसवशील एवं प्रभावशील है। अस्तित्व के अतिरिक्त जो भी भास आभास होता है वह सामयिक रूप में होना पाया जाता है जैसे रस्सी सर्प जैसा भासना जब उसका परीक्षण निरीक्षण होने पर वैसा न होना। जैसा मृगतृष्णा मरीचिका, तपे हुए बालू के मैदान में पानी अथवा समुद्र का भास आभास होने मात्र से परीक्षण निरीक्षण पूर्वक उसकी भास्यता दूर हो जाती है। इसी प्रकार कितने भी भ्रमवादी घटनायें हो जाती हैं वे सब भास आभास होते हुए उसकी सत्यता अनुभव की कसौटी पर यथार्थता तक पहुंच नहीं पाता क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार से हम यह सूत्र पाते हैं कि जिसका अस्तित्व नहीं है उसका अनुभव नहीं होता। साथ ही अस्तित्व में ही अनुभव होता है।

“अस्तित्व न घटता न बढ़ता।” इसलिये अस्तित्व में अनुभूति अधिक और कम उपाधिग्रस्त नहीं होती। इसी कारणवश अनुभव पूर्ण होता है और पूर्णता की निरंतरता होती है। यही मानव संचेतनावादी शिक्षा संस्कार का स्रोत है एवं गम्यस्थली भी है इससे असंदिग्ध रूप में हमें पता चलता है कि शिक्षा की महत्ता, पूर्णता एवं उसकी निरंतरता के अर्थ में है जो स्वयं अनुभवों का सत्यापन और उसकी सम्प्रेषणा है। सत्यापन की स्थिति में अनुभव दर्शन के नाम से विख्यात होता है जब उसकी सम्प्रेषणा होती है अर्थात् जब दूसरों को समझा पाते हैं तब वह पाठ रूप हो जाता है। ऐसा पाठ रूप विशेषकर वाङ्मय के रूप में मिलता है। वाङ्मय स्वयं भाषा में ख्यात होता है। भाषा विज्ञान से अनुशासित होने और

भाव शैली सन्निवेश पूर्वक संप्रेषित होने की व्यवस्था है। इसलिए दर्शन क्षमता को विकसित करने के लिये और अभिव्यक्ति एवं संप्रेषित करने के लिए भाषाई अनुशासन एक अपरिहार्य शर्त है।

अनुभव के साथ ही दृष्टियों की क्रियाशीलता एवं प्रभावशीलता का होना पाया जाता है। मानव मात्र में 6 प्रकार की दृष्टियाँ क्रियाशील एवं प्रभावशील होना पाया जाता है। उसी के आधार पर अनुभव भास आभास प्रतीति एवं अनुभूति क्षमताएं अपने आप में स्पष्ट हो जाती हैं। साथ ही दृष्टियों के आधार पर ही शक्तियों का नियोजन होने के कारण स्वभावों का और इन्हीं दृष्टियों की क्रियाशीलता के आधार पर वृत्ति, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का स्पष्ट हो जाना पाया जाता है। छ दृष्टियां, इस प्रकार हैं – प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ, न्यायान्याय, धर्माधर्म एवं सत्यासत्य। जीवन संचेतना में ये दृष्टियां क्रियाशील होता हुआ देखा जाता है। संचेतना जिन दृष्टियों को श्रेष्ठ अथवा अति आवश्यक समझती है उनमें वह दृष्टियां अपनी क्रियाशीलता में प्रभावशील हो जाती हैं। दृष्टियों की क्रियाशीलता का तात्पर्य उन उन वस्तुओं को पहचानने से है। प्रभावशील होने का तात्पर्य उसका निर्वाह करने से है।

प्रियाप्रिय दृष्टि इन्द्रिय सन्निकर्ष में होने वाली रुचियां और ऋतु प्रभावों को पहचानने और इच्छा पूर्वक सेवन करने, अनिच्छा होते पर न सेवन करने के स्वरूप में देखा जाता है। रुचियां इन्द्रिय सन्निकर्ष की सीमा में अर्थात्, रूप, रस, गंधेंद्रियों के सन्निकर्ष में अथवा योग में आने वाले जितनी भी वस्तुएं हैं उन सबमें से रुचि को आस्वादन करने की प्रक्रिया है, वह प्रिय की सीमा में और जो आस्वादन करने योग्य नहीं है की पहचान है वह अप्रिय की गणना में आता है।

“रुचि का तात्पर्य विभिन्न रसायनों के रस की पहचान।” पहचानने के क्रम में विभिन्न वस्तुओं को, अर्थों को विभिन्न पद्धति से पहचाना जाता है। एक पदार्थ पिण्ड के रुचि को पहचानने के लिये जिह्वा इंद्रियाँ, उसकी मृदुता कठोरता को पहचानने के लिये स्पर्श इंद्रियां, शब्दों को एवं उसके अर्थ को पहचानने के लिये कर्णेन्द्रियों द्वारा, गन्ध को ग्रहणेन्द्रिय द्वारा और रूप को नेत्र इंद्रिय द्वारा पहचाना जाता है। प्रत्येक इंद्रिय इच्छाओं सहित आशा से संपृक्त रहना आवश्यक है। इच्छा और आशा का प्रभावशीलन जिन जिन इंद्रियों में नहीं होता है अथवा होने योग्य नहीं रह पाती उस उस स्थिति में उन-उन इंद्रियों द्वारा जो आस्वादन क्रिया होने की व्यवस्था है वह नहीं हो पाती इसे मनुष्यों में देखा जा सकता है, जिनका आँख, कान, नाक रोग ग्रस्त हो गया हो उस स्थिति में उन उन इंद्रियों से जो आस्वादन क्रिया होती है या होने की है, वह नहीं हो पाती। स्वस्थ मनुष्य भी अपेक्षाओं और आशाओं से अप्रभावित रखने पर भी उन उन इंद्रियों द्वारा उनमें होने वाली रुचियों का आस्वादन नहीं हो पाता जैसे भोजन करते समय में जिह्वा चापल्यता के साथ अथवा पहचान के साथ इच्छाएँ न रहते समय उस भोजन की रुचि समझ में नहीं आती इसी प्रकार प्रत्येक इंद्रियों के क्रिया अपार गति के साथ देखा जाता है। ऊपर कही हुई प्रत्येक स्थिति को प्रत्येक मनुष्य देखने योग्य है। देखने का तात्पर्य समझने से है। इंद्रिय का तात्पर्य इच्छानुसार द्रवित होने से है। द्रवित होने का तात्पर्य इच्छानुरूप कार्य करने से है। इसे प्रत्येक व्यक्ति के साथ परीक्षण और निरीक्षण पूर्वक देखा जा सकता है। इच्छानुरूप जब शरीर के अंग-प्रत्यंग कार्य नहीं कर पाते हैं तब उसे रोग मानकर चिकित्सा शुरू कर देते हैं। इसी भांति सभी दृष्टियों का वर्तमान विभिन्न पद्धतियों से परीक्षण पूर्वक सिद्ध हो जाता है।

“हिताहित दृष्टियां स्वास्थ्य सीमानुवर्ती होते हैं।” जैसे— आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को प्रिय लगते हुए स्वास्थ्य की दृष्टि से अहित होने अर्थात् रोगों को उत्पन्न करने का कारण बन जाता है अर्थात् रोग के कारणभूत जितने भी प्रिय क्रियाकलाप हैं वे सब अहित के रूप में निरूपित, स्पष्ट एवं प्रमाणित होते हैं। इसे ऐसा समझना पर्याप्त है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष में जितने भी प्रिय क्रिया व्यापार होते हैं उन सबको भोग की संज्ञा से समझ लेने पर अतिभोग रोगकारी होता है। शरीर का रोगी होना जीवन शरीर के द्वारा प्रकाशित होने में अड़चन अवरोध होना है। मूलतः जीवन संचेतना का परावर्तन और प्रत्यावर्तन का माध्यम के रूप में शरीर की महत्ता होने के कारण इसे स्वस्थ रखने की अनिवार्यता है इसे कोई भी सामान्य समझ के रूप में साक्ष्यों को अतिरिक्त क्रिया-कलापों में भी देखा जा सकता है। जैसे— बिजली से विभिन्न प्रकार की प्रयोजन पाने के लिये विभिन्न यंत्रों को स्वस्थ रखने की आवश्यकता होती है। जैसे पंखा, कूलर, हीटर, बल्ब, पंप आदि इस उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर को स्वस्थ रखने की दृष्टि से प्रियात्मक दृष्टि संयत हो जाती है यह सांस्कृतिक कार्य प्रणाली का प्रारंभिक निष्कर्ष होगा।

लाभालाभ दृष्टि— लाभात्मक दृष्टि विशेषकर बाह्य वस्तुओं अर्थात्, प्रत्येक मनुष्य अपने से भिन्न वस्तुओं के साथ लाभालाभात्मक दृष्टि का प्रयोग करता है। लाभ की परिभाषा यही होती है कि “कम देना अधिक लेना।” परिभाषा स्वयं स्पष्ट है। इस दृष्टि से जब व्यवसाय करने जाता है, व्यापार करने जाता है तब ही इस दृष्टि का प्रयोग होना होता है। व्यवसाय कार्य को हम देखें तो व्यवसाय कार्य मनुष्य के द्वारा ही संपादित हो पाती है। सम्पूर्ण उत्पादन व्यवसाय की उपज होती है। सम्पूर्ण वस्तु उत्पादन के रूप में हम गणना करते हैं। और आवश्यकतानुसार उपयोगी माना जाता है। वह सब मनुष्येतर प्रकृति का ही रूपांतरित स्वरूप है। ऐसी व्यवसाय कार्य को उत्पादन, उद्योग कार्य, व्यवसाय कार्य कहा जाता है। उत्पादन उपयोगिता व कला मूल्य को मनुष्येतर प्रकृति पर स्थापित करने से होता है। जैसे लोहा आदि धातुओं को एकत्रित करना। लकड़ी आदियों से आवश्यकीय वस्तुओं को बनाना, खनिज द्रव्यों को उपयोगिता का स्वरूप देना, विभिन्न द्रव्यों को रासायनिक स्वरूप देना, यह सब व्यवसाय कार्य का तात्पर्य होता है। इसी में कलात्मक कार्य भी होते हैं जो उपयोगिता के जुड़ा होता है। यंत्रों उपकरणों के साथ जो कलायें जुड़ पाती हैं। ये हुआ उपयोगिता के साथ कला का योगदान। इसके अतिरिक्त मनुष्य में व्यवसाय का एक और भाग है, वह है कलात्मक व्यवसाय। व्यावसायिकता का तात्पर्य जीविकोपार्जन सहित कला की अभिव्यक्ति। इनमें यह गण्य होते हैं कि मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, काव्य और साहित्य होते हैं।

व्यवसाय व उत्पादन में अंतर यही है कि उत्पादन उपयोगिता प्रधान कला गौण। जिसमें सामान्य आंकाक्षावादी आहार आवास अलंकार द्रव्य के रूप में गण्य होते हैं और महत्वाकांक्षावादी उपयोगिता दूरगमन दूरश्रवण एवं दूरदर्शनवादी वस्तुयें उपकरण यंत्र होते हैं। अथवा इस रूप में गण्य होते हैं यह मनुष्य की आवश्यकताओं का स्वरूप है इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये मनुष्य उत्पादन के लिये प्रवृत्त होता ही है। इस प्रकार उत्पादन उपयोगिता प्रधान अपने आप सिद्ध हुआ और व्यवसाय कला प्रधान तदुपरांत उपयोगिता गौण सिद्ध हुई। इसका मतलब यह हुआ कि एक भाग उपयोगिता पूर्वक कला प्रदान करना चाह रहा है दूसरा भाग कला पूर्वक उपयोगिता को उत्प्रेरित करना चाह रहा है। मूलतः कला और उपयोगिता अविभाज्य वर्तमान हैं। इसी कारणवश मानव अनादि काल से ही दोनों पद्धति से ही जूझ पड़ा है। यही संस्कृति की स्रोत के रूप में दिखाई पड़ता है। तात्पर्य कलात्मक उपयोगिता, उपयोगात्मक कला यह दोनों प्रयास सन्निकर्ष होने की क्रम में संस्कृति का उत्थान को लक्ष्य बना सकते हैं।

यहां संस्कृति का स्मरण आवश्यक इसलिये रहा कि लाभालाभ विचार दृष्टि की क्रियाशीलता मनुष्य अथवा मानव के चरित्र में ही देखने को मिलता है इसी क्रम में ऊपर कहे हुए तथ्यों के आधार पर उत्पादन मनुष्येतर प्रकृति के साथ होता है यह असंदिग्ध रूप में समझ चुके हैं। मनुष्य के साथ मनुष्य व्यापारिक, व्यावहारिक संबंधों को देख पाता है। व्यापार में ही लाभालाभ की बात सन्निहित है। मनुष्य मनुष्य के साथ व्यापार करने लगता है अथवा लगा है तब से ही लाभ की दृष्टि वर्तमान होती आयी है इसका साक्ष्य यही है लाभोन्मादी अर्थ चिंतन। प्रत्येक व्यक्ति संस्था और व्यवस्था जो वस्तु जितनी कीमत में लिया रहता है उससे अधिक में बेचने के लिये बाध्य हो गया है। इसकी सफलता के मूल में मांग को अधिक बनाये रखना और वस्तु को कम दिखाना यह व्यापार का मर्म माना गया है। अर्थशास्त्र में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलती है कि आवश्यकताएं अनंत हैं वस्तुएं सीमित हैं इसलिये लाभदायी पद्धति से अर्थव्यवस्था को सोचना चाहिए। इन बातों को देखने पर अपने को स्वयंस्फूर्त प्रेरणा इस ओर देखने के लिये बाध्य करता है कि व्यापार से मनुष्य लाभमूलक पद्धति से समृद्ध होना चाहिए या व्यवसाय मूलक पद्धति से या अधिकाधिक उत्पादन से समृद्ध होना चाहिए? इसके व्यावहारिक विश्लेषण पर जाते हैं तब हम पाते हैं कि वस्तु ही हमारी समृद्ध है न कि धन।

धन में वस्तु को खरीदने की शक्ति को मानकर चलते आये यह देखने को मिला कि एक समय में उतने ही पैसों से जिस वस्तु का जितनी मात्रा से खरीद पाता था वह दूसरे समय में देखने को नहीं मिला जैसे इस शताब्दी के प्रथम दशक में जिन वस्तु का एक मूल्य रहा हो वह सैकड़ों गुना बढ़ चुका है। इससे एक तथ्य उभरता है। एक क्रम चलते-चलते एक दिन बहुत सारा पैसा ही वस्तु के रूप में रह जाएगा और पैसे से वस्तुएं मिल पाएंगी या नहीं शंकास्पद स्थिति निर्मित होती है। इस ढंग से वस्तु से समृद्ध होने के तथ्य को स्वीकारने पर क्या स्थिति बनेगी उसके बारे में मानव कुल सोच पायेगा, समझ पाये और कुछ कर पायेगा। यह स्पष्ट हो चुका है कि उपभोक्ता एवं उत्पादक के बीच में एक व्यापार कार्य है। उसी में लाभोन्माद की निरंतर वृद्धि होती आई। इसे लाभोन्माद कह सकते हैं। इसे दूसरी भाषा में शोषण कार्य भी कह सकते हैं। यह विनिमय नहीं हुआ। विनिमय आवश्यक है, व्यापार आवश्यक नहीं। मनुष्य ही मनुष्य के व्यापार का लक्ष्य बन जाता है। फलतः यथार्थता से भिन्न दोहरे व्यक्तित्व के व्यापारी तैयार करना पड़ता है।

इस प्रकार से दोहरे व्यक्तित्व के कारण व्यापार हुआ। ऐसी व्यापारवादी व्यवस्था दोहरे व्यक्तित्व का शिकार होना स्वाभाविक हुआ। व्यापार एवं व्यवस्था जब दोहरे व्यक्तित्व का भागीदार हुआ तब लोक जीवन में दोहरा व्यक्तित्व ही स्वाभाविक हुआ, फलतः शिक्षा भी उसी के तारतम्य में होता आया। इस प्रकार मनुष्य लाभ के प्रलोभन से उबरने का रास्ता नहीं पाया। इसका गवाही यही है कि पूंजीवादी साम्यवादी एवं दोनों से मिला वादी लाभोन्मादी कार्य चिंतन ही प्रभावशील है इसका तात्पर्य यह हुआ कि अर्थमूलक शिक्षा व्यवस्था एवं चरित्र हुआ।

मनुष्य में वस्तु और मूल्यों को पहचानने की क्षमता संचेतना के रूप में समाहित रहती है जबकि अर्थ वस्तु मूल्य का प्रतिमूल्य के अर्थ में है ऐसी प्रतीक मूल्य से प्रभावित शिक्षा व्यवस्था और चरित्र कैसे एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं, मनुष्य स्वयं ही किस प्रकार से संतुष्टि पाये? इन दो बिन्दुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसी के साथ इसी से यदि संतुष्ट हो सकते हैं तो कैसे? यदि नहीं हो सकते तो विकल्प क्या होगा? इसे स्पष्टतया हृदयंगम करना ही मध्यस्थ दर्शन का एक उद्देश्य है।

लाभ का अंत भोग अतिभोग और बहुभोग की ओर होने के कारण इसे मानव चरित्र का आधार होना संभव नहीं है। इस प्रकार लाभवाद का पराभव तो हमें पता लगता है लाभवाद विशेषकर व्यवस्था व व्यापार का संयुक्त देय है। इन्हीं दो पक्षों का संयुक्त प्रयास आज मानव चरित्र के सम्मुख प्रश्न चिन्ह लगवा दिया। इसके साथ यह भी तथ्य अपने सम्मुख आ चुके हैं कि उपासना पूजा प्रार्थनावादी चरित्र शिक्षा और व्यवस्था नहीं हो सकती। जब तक शिक्षा व्यवस्था और चरित्र में अविभाज्य वर्तमान जब तक स्थापित नहीं हो पायेगा तब तक मानव कुल इन मुद्दों के संबंध में बारम्बार सोचने के लिये बाध्य होता ही रहेगा। यह कोई भविष्यवाणी या चमत्कार नहीं है। यह सहज स्वाभाविक नियति क्रम व्यवस्था है। नियति क्रम व्यवस्था से परे जाकर अर्थात् उसके व्यतिरेक में अथवा विपरीत में प्रयास करते हुए सामाजिक आर्थिक राज्यनैतिक सफलता नहीं हो पाती। इनमें परस्पर दूरियाँ रह जाती हैं वे ही द्रोह विद्रोह का मुद्दा बनते हैं। द्रोह विद्रोह मानव का इष्ट तीनों काल में नहीं हो पाता अर्थात् मानव सदा के लिये वर नहीं पाया अथवा वर नहीं पायेगा। इस स्थिति में सहज ही यह मालूम होता है कि द्रोह विद्रोह विहीन अर्थात् शोषण विहीन व्यवस्था शिक्षा एवं चरित्र का संयोजन है। इस प्रकार से इस निष्कर्ष पर हम आ सकते हैं कि लाभोन्मादी अर्थव्यवस्था शोषण के बिना, शोषण द्रोह विद्रोह के बिना, द्रोह-विद्रोह युद्ध के बिना, युद्ध मानव कुल के नाश के बिना रुक नहीं पाता।

जीवन विद्या

1. जीवन विद्या (क्र. १)

—सम्पूर्ण समाधान का स्रोत—

हर मनुष्य जीवन और मनुष्य का नाम लेता है। मनुष्य का सर्वेक्षण करने पर पता लगता है – मनुष्य स्वयं को जानने में ही संदिग्ध या अस्पष्ट रहता है। हर मनुष्य स्वयं के अस्तित्व को मानता है जानता नहीं इसीलिए स्वयं के प्रति विश्वास नहीं हो पाता है। फलस्वरूप श्रेष्ठता का मूल्यांकन में भ्रमित होना पाया जाता है।

मनुष्य का स्व-मूल्यांकन पूर्वक ही हर मनुष्य का मूल्यांकन संभव है। स्व-मूल्यांकन के लिए मानवत्व के आधार पर एकता को सर्वोत्तमोत्तम समाधान के आधार पर मनुष्य जाति एवं मनुष्य धर्म की समानता से सार्वभौमता को जानना मानना जरूरी है। मनुष्य अनेक समुदायों में बंटने का फल ही है आज की सभी प्रकार की समस्याएँ। मनुष्य जाति की एकता को हर मनुष्य में पाये जाने वाली जीवन सहज रूप में जानने, मानने, पहचानने निर्वाह करने के क्रियाकलापों के आधार पर प्रमाणित होता है। बच्चे, बड़े, बूढ़े, जवान सभी इन क्रियाओं को करते हुआ देखने को मिलते हैं। जानने-मानने की वस्तुएं अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होना वर्तमान है। वर्तमान ही नित्य प्रमाण है। परमात्मा में ओत प्रोत प्रकृति एक दूसरे की पूरकता के रूप में है। ऐसा प्रकृति जड़ चैतन्य जिसमें से मनुष्य चैतन्य प्रकृति में विकसित पद में है। मनुष्य ही अस्तित्व में दृष्टा पद में होने के कारण अर्थात् समझने की अधिकार संपन्न होने का प्रमाण जानने मानने के रूप में है।

मनुष्य ही जानने-मानने के क्रम में जीवन क्रियाकलापों को भी जानना मानना एक सहज प्रक्रिया है। जीवन सहज अक्षय अपार शक्तियाँ और उसके प्रभाव के आधार पर प्रत्येक मनुष्य जीवन को सरलता से समझने योग्य है। जीवन को तात्त्विक रूप में, क्रिया रूप में एक प्रयोजन रूप में देखा जाता है। तात्त्विक रूप में जीवन विकसित गठनपूर्ण परमाणु है। इसका विशद अध्ययन परमाणु में विकास खंड में स्पष्ट किया है। फिर भी संक्षेप रूप में संपूर्ण विकास परमाणु में ही होता है। विकासक्रममें ही संपूर्ण प्रजाति के परमाणु विद्यमान हैं। विकसित परमाणु जीवन पद में संक्रमित हो जाता है। वह पुनः भौतिक या रासायनिक अणु में परिवर्तित किसी भी प्रभाव या दबाव से नहीं हो पाता है। इसीलिए जीवन अमर होना स्पष्ट होता है। अणु रचित रचनाओं का विरचना का होना पाया जाता है। शरीर भी रासायनिक तत्वों, द्रव्यों का संरचना है। इसीलिए शरीर का नश्वरत्व भी समझ में आता है।

प्रत्येक मनुष्य जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में है। जीवन ही शरीर को जीवन्तता प्रदान करता है और जीवन सहज लक्ष्य जागृति को प्रमाणित करने के क्रम में शरीर के द्वारा जीवन प्रकाशित होता ही रहता है। इसका पहला प्रमाण – हर एक व्यक्ति कर्मस्वतंत्र कल्पनाशील होना, दूसरा प्रमाण – जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना, तीसरा प्रमाण – चयन-आस्वादन करना, विश्लेषण और तुलन करना, चित्रण और चिंतन करना, संकल्प और बोध करना, प्रामाणिकता और अनुभव करना, जीवन सहज क्रियाकलाप हैं। इन्हीं का विशद अध्ययन अवधारणा और प्रमाणित करने के क्रियाकलाप को जीवन विद्या के नाम से जाना जाता है।

आदिकाल से भी स्वस्वरूप को समझने के लिए अभीप्सायें रही हैं। आत्मज्ञान के बारे में भी प्रेरणा रही है। ब्रह्मज्ञान को ज्ञान मान कर ही सारे आध्यात्म चर्चा की गई है। उस चर्चा में आत्मज्ञान किसको होता है यह पता नहीं चला, ब्रह्मज्ञान किसको होता है यह भी पता नहीं चला। इसलिए परेशानियाँ और बढ़ी। आत्मधर्म और ब्रह्मज्ञान अध्ययनगम्य नहीं हो पाया। प्रयोग सतत चलता ही आई। अभी हम जीवनज्ञान और धर्म अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था को सुगमता से अध्ययन कर सकते हैं। अस्तित्वमूलक मानवकेंद्रित चिंतन विधि से व्यापक सत्तामयता में संपृक्त जड़ चैतन्य प्रकृति का ज्ञान अर्थात् जानना मानना बनता है। जानने-मानने वाला जीवन सहज क्रिया है। जीवनज्ञान के लिए विधिवत अध्ययन और अवधारणा की आवश्यकता है ही।

जीवन का अध्ययन क्रम में निरीक्षण परीक्षणपूर्वक चयन और आस्वादनो को विश्लेषण और तुलन से परखा जाता है फलस्वरूप न्याय-अन्याय, समाधान-समस्या हमें समझ में आता है। तुलन और विश्लेषण, चिंतन और चित्रण द्वारा परखा जाता है। फलस्वरूप न्याय और समाधान स्पष्ट हो जाता है। चिंतन और चित्रण को बोध और संकल्प से परखा जाता है फलतः समाधान और सत्य समझ में आता है। बोध और संकल्प को प्रामाणिकता और अनुभव से परखा जाता है। फलस्वरूप अवधारणागत (बोध सहज) सत्य प्रमाणित हो जाता है। इसी क्रम में आत्मा अस्तित्व में अनुभूत होना, अध्ययनपूर्वक और अभ्यासपूर्वक प्रमाणित होती है। अस्तित्व ही परम सत्य है। अस्तित्व में अनुभूत होना जीवन जागृति सहज अधिकार है। यही दृष्टा पद प्रतिष्ठा का प्रयोजन है।

जानने-मानने में जब जीवन और अस्तित्व तृप्त हो जाता है उसके फलन में संबंधों, नैसर्गिकताओं और व्यवस्था को पहचानना, निर्वाह करना सहज होता है। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के कारण इस धरती पर चारों अवस्था के अभिव्यक्तियाँ परस्पर संबंधित है ही। इन संबंधों को दो भाग में पहचाना जाता है कि (1) प्राकृतिक संबंध (2) मानव संबंध। मानव संबंधों को पहचानते ही मूल्यों का निर्वाह होना सहज है। संबंधों का नामकरण सहज रूप में ही मानव प्रकारांतर से शब्दों के रूप में उच्चारण करता ही है।

2. जीवन विद्या (क्र. २)

जीवन विद्या – अवधारणा

मूलतः जीवन विद्या और उसकी अवधारणा का स्रोत अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिंतन और उसकी अभिव्यक्ति है। यह मानव परंपरा में, से, के लिए अर्पित है।

‘अस्तित्व’ में मैं अनुभूत हुआ हूँ। अनुभव को बोधपूर्वक संप्रेषित किया हूँ और अस्तित्व में मैं अपने ही जागृतिपूर्णता को प्रमाणित कर रहा हूँ। मैं अपने दृष्टापद प्रतिष्ठा और उसके प्रयोजनों को पहचाना हूँ। अस्तित्व में मानव को अविभाज्य रूप में होना पाता हूँ।

अस्तित्व का तात्पर्य नित्य वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य ‘होना’ ही है। जैसे आप-हम, धरती, अनंत का होना और व्यापक का होना हम देखते हैं। हम एक दूसरे को देखने में बीच में व्यापक वस्तु दिखाई पड़ती है। इसी व्यापक वस्तु में आप-हम, यह धरती, चाँद-सूरज, तारागण अनंत सौरव्यूह समाया हुआ दिखता है।

इस समाए हुए का स्वरूप ही सम्पूर्ण एक-एक, चाहे परमाणु हो, चाहे ग्रह-गोल-सौर व्यूह हो, सभी इसी व्यापक वस्तु में घिरे, डूबे और भीगे दिखते हैं। वस्तु का तात्पर्य वास्तविकता को (जैसा है वैसा ही) प्रकाशित करने से है। इस प्रकार व्यापक वस्तु अपने वास्तविकता को और विभक्त वस्तु अपने वास्तविकता को प्रकाशित कर रहे हैं। यही अस्तित्व का मूल अवधारणा है।

‘व्यापक’ वस्तु में विभक्त वस्तुएँ भीगे रहने का प्रमाण उनका ऊर्जा सम्पन्न रहना है। ऐसी ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता के रूप में स्पष्ट है। ऐसी बल संपन्नता क्रियाशीलता और क्रियाशीलता श्रम, गति, परिणाम के रूप में दिखती है। इसी के साथ-साथ घिरा हुआ से नियंत्रण, डूबा हुआ से क्रियाशीलता निरंतर देखने से मिलती है। यही सह अस्तित्व का अवधारणा है।

अस्तित्व सहज सह अस्तित्व ही इस धरती पर वैभूत है। इसे हम पदार्थवस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था के रूप में देखते हैं। इसमें से मनुष्येतर तीनों अवस्था की प्रकृति संतुलित, नियंत्रित और नियमित रहना पाया जाता है। यही इनके व्यवस्था में रहने का एवं समग्र व्यवस्था में भागीदार होने का साक्षी है। इन तत्वों की विशेष व्याख्या न करते हुए मैं मानव को अध्ययन के वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

मनुष्य अस्तित्व में अविभाज्य है। सहअस्तित्व प्रभाव में ही अस्तित्व दिखाई पड़ती है, इसलिए मनुष्य भी सहअस्तित्व प्रभाव में है। मनुष्य का मूल स्वरूप ही ‘जीवन’ और शरीर के सहअस्तित्व में वैभूत है। जिसमें से शरीर रासायनिक भौतिक रचना के रूप में होना सर्वविदित है। जिसमें 5 कर्मेन्द्रियाँ एवं 5 ज्ञानेन्द्रियाँ होना स्पष्ट है। इसके लिए आवश्यकीय सभी अंग-अवयव शरीर रचना ज्ञान में स्पष्ट हो चुका है।

‘जीवन’ वस्तु को पहचानने के क्रम में भौतिकवादियों ने ‘शरीर रचना विशेष’ को ही ‘वस्तु’ मान लिया जबकि आदर्शवादियों ने ईश्वर अथवा आत्मा को वस्तु माना। पहले विधि से मनुष्य व्याख्यायित नहीं हो पाया। दूसरे विधि से रहस्य के अनंतर रहस्य ही दीवार बन गई। इसलिए ‘जीवन’, विशेषकर मानव जीवन अध्ययनगम्य नहीं हो पाई थी।

अस्तित्व में यह देखा गया है कि परमाणु में विकास होता है। विकास क्रम में ‘जीवन पद’ होता है। ‘जीवन’ पद के अनन्तर जागृति क्रम और जागृति ‘जीवन’ में ही होती है। इसे हम इस प्रकार देख पाते हैं कि सम्पूर्ण प्रजाति के परमाणुओं को कतार में रखकर देखने पर कुछ संख्यात्मक ही पाये जाने वाले परमाणु ‘भूखे’ रहते हैं क्योंकि उनमें और अंशों को समा लेने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, और कुछ संख्यात्मक प्रजाति के परमाणुएँ ‘अजीर्ण’ स्थिति में दिखाई पड़ते हैं क्योंकि उनसे कुछ अंश विसर्जित होने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। दिखने का अर्थ समझने से है। मनुष्य ही समझने वाला एक मात्र इकाई है। इसी आधार पर मनुष्य ही दृष्टा होना हम स्वीकार सकते हैं। हम ‘जीवन विद्या परिवार’ इसे समझकर स्वीकार कर चुके हैं। ‘दृष्टा पद’ में ही जीवन एक तृप्त परमाणु के रूप में समझ में आता है क्योंकि ‘भूखे’ और ‘अजीर्ण’ परमाणुओं के बीच ‘तृप्त’ परमाणु होना एक आवश्यकता है। यही तृप्त परमाणु जागृतिपूर्णता के अनन्तर स्वयं को समझने और अस्तित्व को समझने के योग्य हो जाता है। यही अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान की स्पष्ट अभिव्यक्ति का आधार है।

ऐसे तृप्त परमाणु रूपी जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में मनुष्य का होना पाया जाता है। इसलिए यहाँ मैं कहना चाहता हूँ कि मनुष्य नाम से जो कुछ भी समझने की बिन्दुएँ हैं, ‘जीवन’ ही समझता है, इसलिए दृष्टा, कर्ता और भोक्ता होता है। जीवन विहीन शरीर मनुष्य नहीं होता, शरीर विहीन जीवन भी मनुष्य के पद में नहीं होता। अतएव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में मानव परंपरा का होना देखा जा सकता है।

मानव परंपरा ही ज्ञानावस्था की इकाई है। ज्ञान मूलतः जीवन ज्ञान ही है। दर्शन, मूलतः अस्तित्व दर्शन ही है। सम्पूर्ण मानव के लिए ‘मानवत्व’ ही आचरण का आधार है। इस प्रकार जीवन ज्ञान ही परम ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ही परम दर्शन एवं मानवीयतापूर्ण आचरण ही परम आचरण है क्योंकि यह सबकी आवश्यकता है। सर्वमानव की आवश्यकता है। यह सबको समझ में आने की संभावना है और इस स्पष्ट ज्ञान, दर्शन और आचरण के फलस्वरूप अखंड समाज-सार्वभौम व्यवस्था समीचीन है।

इस पूर्व भूमि के आधार पर जीवन विद्या के सामान्य अवधारणाओं की ओर आपका ध्यानाकर्षण करना चाहते हैं इसमें परिशीलन (परीक्षणपूर्वक स्वीकारना) के लिए आवश्यक है कि स्वयं ही, स्वयं का, स्वयं के लिए परीक्षण करें। यही प्रमुख बिन्दु है। इस स्थिति में जीवन के स्वरूप को गठनपूर्ण तृप्त परमाणु के रूप में समझ पाते हैं। ऐसे तृप्त परमाणु में अक्षय बल और अक्षय शक्तियों को समझना सहज है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपने में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव करता ही है। ये पाँचों शक्तियाँ कितनी भी परावर्तित किया जाए, और परावर्तित करने के लिए शक्तियाँ उद्गमित होता हुआ देखने को मिलता है। दूसरे क्रम में कितने भी आशा के अनन्तर और आशा हम प्रत्येक व्यक्ति कर सकते हैं। इसे प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है, सत्यापित कर सकता है। इसी प्रकार विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव को भी अक्षय रूप में पाते हैं।

इसी अक्षयता को पहचानने के साथ-साथ सार्थकता की कसौटी अपने आप मानव के सामने आता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सफल होना चाहता है। इस आशय के साथ सफलता के ध्रुव बिन्दु को भी पहचानना अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्य में होने वाली जीवन क्रियाएँ सहज रूप में ही चयन, आस्वादन, विश्लेषण, तुलन, चित्रण, चिंतन, संकल्प, बोध, प्रामाणिकता और अनुभव के रूप में सतत होता ही रहता है।

मानव परंपरा में सार्थकता को समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व के रूप में पहचाना गया है। इसकी सार्वभौमता को सम्पूर्ण मानव स्वीकारता ही है। इन सर्वशुभ बिन्दुओं को सफल और सर्वसुलभ होने की दिशा में ही जागृति और अजागृति की रेखा स्पष्ट हुई है। जागृत मानव परंपरा में ही हम जागृत संतानों को देखने का सौभाग्य सहज है। भ्रमात्मक (अजागृत) कार्यकलाप को प्रिय, हित और लाभ दृष्टि से अनुप्राणित चयन, आस्वादन, विश्लेषण और चित्रण क्रियाकलाप के रूप में पहचाना जाता है। जबकि न्याय, धर्म और सत्यपूर्ण दृष्टि से अनुप्राणित चयन, आस्वादन, विश्लेषण, चित्रण, चिंतन, संकल्प, बोध, प्रामाणिकता और अनुभव ही जागृति का प्रमाण है। इस प्रकार जागृतिपूर्वक ही स्वायत्त मानव और परिवार मानव के रूप में स्पष्ट होना पाया जाता है। फलतः परिवार मूलक स्वराज्य इसी देश- धरती में प्रमाणित होना एक मानव सहज आवश्यकता, संभावना और उपलब्धि है। मेरी दृष्टि में यही सर्वोदय है, अभ्युदय है, यही स्वतन्त्रता भी है।

जय हो! मंगल हो!! कल्याण हो!!!

3. जीवन विद्या (क्र. ३)

दिनांक-06/03/89

अस्तित्व में जीवन विद्या का स्वरूप, जीवन-जागृति लक्षित अभ्यास की परिस्थिति, स्थिति व गति आवश्यकता, संभावना, प्रक्रिया, स्रोत एवं प्रयोजनपूर्वक है।

परिस्थितियाँ :- अस्तित्व में हमें जीवन जागृति लक्षित अभ्यास के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ बाध्य कर रही हैं।

1. विभिन्न अभ्यास परंपरा स्वयं तथा उनकी परस्परता में अंतर्विरोध होना।
2. मनुष्य के अनुभव बल, विचार शैली तथा जीने की कला में अंतर्विरोध होना।
3. ध्यान, ध्येय व ध्याता में अंतर्विरोध होना।
4. दृष्टा, दृश्य व दर्शन में अंतर्विरोध होना।
5. अभ्यास, उसका परिणाम, फल एवं प्रभाव का शिक्षा व व्यवस्था से सूत्रित व व्याख्यायित न होना।

उपर्युक्त सभी परिस्थितियाँ विकल्प के लिए प्रेरक हैं।

सूत्र – प्रत्येक मनुष्य शुभ चाहता है; रुचि से ग्रसित रहता है।

स्थिति व गति :- अस्तित्व में जीवन जागृति प्रत्येक मनुष्य में, से, के लिए सहज स्थिति व गति है।

जीवन विद्या = जीवन जागृति = अस्तित्व में अनुभूति = प्रखर प्रज्ञा = प्रामाणिकता = जानना + मानना = स्थिति/समाधान = सम्बन्धों को पहचानना + निर्वाह करना = गति प्रामाणिकता (जानने व मानने) में, से, के लिए सम्पूर्ण वस्तु

अस्तित्व, अस्तित्व में विकास, अस्तित्व में जीवन, अस्तित्व में जीवन जागृति तथा अस्तित्व में रचनाएँ ही हैं। समाधान में, से, के लिए सम्पूर्ण गति के लिए क्षेत्र मानवीय तथा नैसर्गिक सम्बन्धों को पहचानना और मूल्यों का निर्वाह करना ही है। प्रत्येक मनुष्य कर्म-स्वतन्त्रता व कल्पनाशीलता जैसी मौलिक वैभव सहित स्थिति व गति में दृष्टव्य है। यही मौलिकता बहु-आयामों में प्रवर्तन का स्रोत होना सर्वेक्षण पूर्वक सम्पूर्ण देश काल में स्पष्ट होता है। बहुआयामी प्रवर्तन क्रम में, कर्म व कल्पना की तृप्ति बिन्दुओं का अन्वेषण समाहित है ऐसी तृप्ति बिन्दुओं का स्वरूप प्रामाणिकता व समाधान जो स्वयं जीवन जागृति की अभिव्यक्तियाँ हैं। अस्तु जीवन जागृति ही अभ्यास का सार्वभौम उद्देश्य है।

सूत्र:- जीवन में जागृति, नियति-क्रम व्यवस्था है इसलिए उसकी पीड़ा नियति सहज है, यही नित्य संभावना है।

आवश्यकता:- अस्तित्व में जीवन जागृति का साक्ष्य एक सार्वभौम आवश्यकता है।

मानव में, से, के लिए –

1. समाधान, समृद्धि, अभय व सहअस्तित्व की आवश्यकता है।
2. प्रामाणिकता व प्रमाण की आवश्यकता है।
3. जीवन-जागृति की आवश्यकता है।
4. अनुभव बल, विचार शैली व जीने की कला में सामरस्यता की आवश्यकता है।
5. ध्यान, ध्येय व ध्याता में सामरस्यात्मक स्थिति व गति की आवश्यकता है।
6. दृष्टा, दृश्य व दर्शन में निर्भ्रमता की आवश्यकता है।
7. अभ्यास, व्यवस्था व शिक्षा में सामरस्यता की आवश्यकता है।
8. शिक्षा व्यवस्था व आचरण में सामरस्यता की आवश्यकता है।
9. अस्तित्व और अस्तित्व में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति का अंतर्सम्बन्धों के प्रति निर्भ्रम होना आवश्यक है।

इस प्रकार साम्य रूप में अभ्यास की सार्वभौम आवश्यकताएँ स्पष्ट हैं।

सूत्र :- जीवन तृप्ति व व्यवहार गति नित्य आवश्यकता

संभावना :-

1. अस्तित्व में जीवन जागृति की संभावना सहज है।
2. प्रत्येक मनुष्य में जीवन-जागृति, तृप्ति (प्रामाणिकता) व समाधान की संभावना के रूप में ही विद्यमान है।
3. प्रत्येक मनुष्य में जीवन जागृति विश्राम की संभावना के रूप में विद्यमान है।
4. प्रत्येक मनुष्य में जीवन जागृति सार्वभौम व्यवस्था की संभावना के रूप में विद्यमान है।
5. प्रत्येक मनुष्य में जीवन जागृति स्वतन्त्रता व स्वराज्य की संभावना के रूप में विद्यमान है।

जीवन जागृति की सम्पूर्ण संभावनाओं का आधार अस्तित्व है एवं अस्तित्व में मानव ही है। मानव सर्वाधिक विकसित प्रकृति है। इसकी मौलिकता कर्म-स्वतन्त्रता और कल्पनाशीलता के रूप में स्पष्ट है। ऐसी मौलिक स्थिति व गति सहज रूप में क्रमशः अप्राप्ति की प्राप्ति, अज्ञात का ज्ञात सम्पन्न होने में है।

फलतः

कौन अज्ञात को ज्ञात और अप्राप्त को प्राप्त करता मैं कौन हूँ? क्या हूँ? कैसा हूँ? तथा मैं का उद्गार बिन्दु कहाँ है?

यदि जीव और जगत विकास है, तब इनका मूल स्वरूप, लक्ष्य एवं प्रयोजन क्या है? यदि जीव और जगत किसी की इच्छा, संकल्प, प्रभाव, अनुग्रह या प्रसाद हो तब वह क्या है?

यदि जीव और जगत विकास है, तब इनका मूल स्वरूप, लक्ष्य एवं प्रयोजन क्या है? यदि जीव और जगत किसी की इच्छा, संकल्प, प्रभाव, अनुग्रह या प्रसाद हो तब वह क्या है?

इस प्रकार अनेकानेक प्रश्नों का मानस पटल पर उभरना मनुष्य की मौलिकता ही है। इसके अतिरिक्त और भी प्रश्न उभर सकते हैं। उन सबका निराकरण अथवा समाधान की नित्य संभावना जीवन-जागृति क्रम में है।

सूत्र – चाहने और होने की दूरी शून्य होना ही जीवन तृप्ति है। जो थी, वही होती है।

प्रक्रिया:- अस्तित्व में जीवन जागृति प्रक्रियापूर्वक है। मन में होने वाले आस्वादन को तुलन प्रतिष्ठा में, वृत्ति में होने वाले तुलन को चित्रण प्रतिष्ठा में, चित्त में होने वाले चिंतन को बोध प्रतिष्ठा में, बुद्धि में होने वाले बोध को अनुभव प्रतिष्ठा में, आत्मा में होने वाले अनुभव को अस्तित्व प्रतिष्ठा में, तद्रूपता पर्यन्त किए जाने वाले प्रयास ही, अथवा अभ्यास ही ध्यान प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का अपने आप में सार्वभौम होना और प्रत्येक मनुष्य में, से, के लिए अभ्यासपूर्वक उसके स्वत्व रूप में 'होना' पाया जाता है इसलिए स्वानुशासन, स्वतंत्रता, प्रामाणिकता व समाधान, जीवन 'जागृति का' प्रमाण है। यह सर्वसुलभ होना नित्य समीचीन है। अस्तु, जिसे एक व्यक्ति कर सकता है, समझ सकता है और पा सकता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है, कर सकता एवं पा सकता है।

सूत्र – मानव संस्कार – बीजनुषंगीय परंपरा है

स्रोत:- अस्तित्व में जीवन विद्या का स्रोत मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) ही है। अस्तित्व ही सम्पूर्ण भाव, स्थिति व गति होने के कारण जीवन जागृति विद्यमान है। जीवन जागृति में, से, के लिए अस्तित्व ही सम्पूर्ण वस्तु है। अस्तित्व ही सहअस्तित्व और सम्पूर्ण विकास है।

अस्तित्व में विकास ही जीवन है।

अस्तित्व ही दृश्य, जीवन ही दृष्टा व जागृति ही दर्शन है।

अस्तित्व ही ध्येय, जीवन ही ध्याता व जागृति ही ध्यान है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों का सार्वभौम होने के कारण, जीवन- जागृति सबका इष्ट है।

सूत्र :- नियति नित्य प्रभावशील है, यही जागृति का स्रोत है।

प्रयोजन :- अस्तित्व में जीवन विद्या का प्रयोजन जीवन जागृति ही है।

- जीवन जागृति में आनंद (प्रामाणिकता) आत्मा में,
- जीवन जागृति में बोध (समाधान) बुद्धि में,
- जीवन जागृति में चिंतन (न्याय) चित्त में,
- जीवन जागृति में तुलन (नियम) वृत्ति में,
- जीवन जागृति में आस्वादन (मूल्य) मन में,

अभिव्यक्त, संप्रेषित व प्रकाशित होता है अतः अभ्यास का सम्पूर्ण प्रयोजन व्यवहार सुलभ हो जाता है।

अस्तु, ध्यान प्रक्रिया प्रत्येक मनुष्य के प्रबुद्धता व मेधाविता क्रम में कितना आवश्यक, अनिवार्य व अपरिहार्य है, यह स्पष्ट हो चुका है। ध्यान का ध्येय अस्तित्व में अनुभूति ही है। ध्याता स्वयं जीवन है, दृष्टि जीवन जागृति क्रम में अभिव्यक्त व संप्रेषित होने वाला न्याय, धर्म (समाधान) व सत्य (प्रामाणिकता) है इसलिए वह सार्वभौम है। अस्तित्व में अनुभूति ही जीवन-जागृति एवं उसकी निरंतरता है। जीवन-जागृति ही सम्पूर्ण आयाम , कोण, दिशा, और परिप्रेक्ष्य में समाधान उसकी निरंतरता व परंपरा है। इसे प्रत्येक देश, काल में मनुष्य बरता है।

अस्तित्व में अनुभवमूलक , जीवन-विद्या के प्रकाश में दृष्टा, दृश्य एवं दर्शन में सामरस्यता, अनुभव बल, विचार शैली एवं जीने की कला में सामरस्यता; व्यक्ति, परिवार , समाज (मानव इकाई) राष्ट्र और अंतर्राष्ट्र में सामरस्यता; व्यवसाय, व्यवहार, विचार व अनुभूति में सामरस्यता एवं सौन्दर्य बोध; व्यक्तित्व में सामरस्यता, सहज सुलभ होगी।

सूत्र :- परिणाम का अमरत्व, श्रम का विश्राम तथा गति का गंतव्य ही अस्तित्व में प्रयोजन है।

जीवन जागृति क्रम में प्रामाणिकता व समाधान सार्वभौम होने के कारण, जीवन विद्या मूलक, जीवन- जागृति लक्षित अभ्यास का लोक व्यापीकरण सहज है। अस्तु यह जीवन-मूलक अभ्यास सुखद, सुंदर एवं कल्याणमय होने की कामना से अर्पित है।

जीवन जागृति लक्षित जीवन विद्या का प्रयोग और मूल्यांकन सूत्र-

जीवन विद्या का लक्ष्य – जीवन जागृति – सर्वतोमुखी समाधान

प्रयोग:

1. जीवन विद्या को प्रबोधनपूर्वक बोधगम्य कराना
2. इंद्रिय सन्निकर्षात्मक सम्पूर्ण कार्य व्यापार के रुचि मूलक होने की वास्तविकता को बोधगम्य करना।
3. मूल्य मूलक प्रणाली को बोध सुलभ कराना, जीवन तृप्ति के लिए उसकी अपरिहार्यता को बोध कराना।
4. मूल्य जीवन सहज और रुचियाँ इंद्रिय सहज होने की यथार्थता को बोधगम्य कराना।
5. मूल्यों के आस्वादन क्रम में सम्बन्धों की पहचान व मूल्यों का निर्वाह करने की सहजता को बोध गम्य कराना।
6. मूल्यों का व्यवहार में सम्पन्न कराना, इस क्रिया को वही करेगा, जो प्रबोधन कर्ता है।
7. प्रबोधन कर्ता, जीवन विद्या को जीते हुए प्रबोधन व मूल्यांकन करेगा।
8. न्यायान्याय, धर्माधर्म व सत्यासत्य को विश्लेषण पूर्वक बोध गम्य कराना।
9. मानव मूल्यों को व्यवहार रूप देने की प्रक्रिया व प्रणाली को बोधगम्य कराना।
10. मानव मूल्यों का स्वरूप जो धीरता , वीरता व उदारता है उसे व्यवहार, प्रयोजन के रूप में और विचार प्रयोजन के रूप में बोधगम्य कराना।
11. मानव अपने “त्व” सहित व्यवस्था है , को बोधगम्य कराना।
12. जीवन का अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व एवं व्यवहार के नियमों को विवेचनापूर्वक बोधगम्य कराना।
13. मूल्यांकन विधि से विचार व व्यवहार का मूल्यांकन कराना।
14. दया, कृपा व करुणा का व्यावहारिक प्रयोजन के प्रति निर्भ्रम अवधारणाओं को स्थापित कराना।
15. जाने हुए को मानने व माने हुए को जानने के क्रम में प्रामाणिकता ; प्रत्येक व्यक्ति में, से, के लिए स्वत्व होने के सत्य को प्रबोधन कराना।
16. जीवन जागृति ही अभिव्यक्ति में प्रमाण होने के सत्य को प्रबोधन कराना।
17. अस्तित्व, अस्तित्व में विकास, जीवन, जीवन-जागृति और रचनाएँ अध्ययन के सम्पूर्ण वस्तु होने के सत्य को प्रबोधित कराना।
18. जीवन जागृति को सर्वोच्च विकास होने के सत्य को प्रबोधित कराना।
19. जीवन जागृति, प्रत्येक व्यक्ति में , से, के लिए समीचीन होने के सत्य को प्रबोधित कराना।

मन, बुद्धि, चित्त, वृत्ति और आत्मा का अविभाज्य वर्तमान ही जीवन है। प्रत्येक मनुष्य में जीवन आशा, विचार , इच्छा व संकल्प और अनुभव जैसे अक्षय बल सम्पन्न है।

- अस्तित्व ही परम सत्य है;
- अस्तित्व न घटता है, न बढ़ता;
- जो था, वही होता है।

मानव जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप अनुभव बल, विचार शैली व जीने की कला है। वस्तु में भाव अविभाज्य वर्तमान है। व्यवस्था ही सार्वभौम उद्देश्य, आदर्श और लक्ष्य है।

मूल्यांकन: -

1. औसत मनुष्य का मूल्यांकन मानवीयता पूर्ण मनुष्य
2. न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियों की क्रियाशीलता
3. धीरता, वीरता, उदारतापूर्ण स्वभाव
4. वित्तेशणा प्रधान, पुत्रेशणा, लोकेषणात्मक विषय में प्रवृत्ति व प्रवर्तन – मानवीयतापूर्ण श्रेष्ठ मनुष्य
5. सत्य, धर्म, न्यायपूर्ण दृष्टि की प्रखर क्रिया-शीलता
6. वीरता, उदारता, धीरता क्रम में स्वभावों की अभिव्यक्ति व संप्रेषणा
7. वित्तेशणा, पुत्रेशणा, लोकेषणा क्रम में प्रवृत्तियाँ व प्रवर्तन
8. मानवीयतापूर्ण श्रेष्ठतर मनुष्य
 - क) सत्य, धर्म, न्यायपूर्ण दृष्टियों की प्रखर क्रियाशीलता
 - ख) उदारता प्रधान वीरता धीरता क्रम में स्वभावों की अभिव्यक्ति व संप्रेषणा
 - ग) लोकेषणा प्रधान वित्तेशणा, पुत्रेशणा क्रम में प्रवृत्तियाँ व प्रवर्तन
9. मानवीयता सहित श्रेष्ठतम मनुष्य (देव मानव)
 - क) सत्य एवं धर्म दृष्टियों की जागृति।
 - ख) दया, उदारता व वीरता क्रम में मूल्यों की अभिव्यक्ति।
 - ग) लोकेषणात्मक विषय प्रवृत्ति व प्रवर्तन।
10. दिव्य मानव
 - क) सत्य पूर्ण दृष्टि की पूर्ण जागृति
 - ख) दया, कृपा व करुणा क्रम में मूल्यों की अभिव्यक्ति व संप्रेषणा।
 - ग) सत्य (अस्तित्व) शून्य में प्रवृत्ति व प्रवर्तन (लक्ष्य)

4. जीवन विद्या (क्र. ४)

बुद्धि ज्ञान की, वृत्ति तर्क की, मन आशा की एवं आत्मा अनुभव की क्षमता को प्रकट करती है। अनुभव ही पूर्ण विश्राम है।

मनुष्य का आहार विहार एवं व्यवहार उसके संग्रह, द्वेष, अविद्या, अभिमान और भय से मुक्त होने पर विश्राम है। इसका उत्तरदायी व्यक्ति है। परधन, परनारी, पर-पुरुष एवं परपीड़ा से मुक्त तथा स्वधन, स्वनारी, स्व-पुरुष और दया से युक्त व्यवहार ही स्वस्थ सामाजिक व्यवहार है। जिसका उत्तरदायित्व समाज और व्यवस्था पर है।

विश्राम हेतु ही पदार्थावस्था अस्तित्व के लिए, प्राणावस्था अस्तित्व सहित पुष्टि एवं कुलीनता के लिए, जीवावस्था अस्तित्व पुष्टि एवं कुलीनता सहित जीवन और भोग के लिए तथा ज्ञानावस्था अस्तित्व पुष्टि कुलीनता एवं जीवन भोग सहित अध्ययन, सामाजिकता, व्यवसाय, उपभोग एवं वितरण व्यवस्थापूर्वक सुख के लिए संघर्ष एवं प्रयासरत है।

प्रत्येक मनुष्य विश्राम की आकांक्षा से ही हास या विकास की ओर गतित है।

विकास भेद से अवस्था, अवस्था भेद से आशा और आकांक्षा, आशा और आकांक्षा भेद से मूल प्रवृत्ति व निवृत्ति, मूल प्रवृत्ति व निवृत्ति भेद से आसक्ति व अनासक्ति, आसक्ति व अनासक्ति भेद से विवशता व विवेक, विवशता व विवेक भेद से संवेग और निष्ठा, संवेग और निष्ठा भेद से व्यवहार व आचरण, व्यवहार और आचरण भेद से फल व प्रतिक्रिया, फल व प्रतिक्रिया भेद से समस्या और समाधान, समस्या व समाधान भेद से श्रम व विश्राम, श्रम व विश्राम भेद से हास व विकास है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण भेद से जानकारी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंधेन्द्रियों द्वारा प्राप्त जानकारी स्थूल है। मन, वृत्ति, चित्त एवं बुद्धि द्वारा जानकारी सूक्ष्म है। आत्मा का अस्तित्व बोध होना कारण जानकारी तथा व्यापकता में अनुभूत होना ही महाकारण जानकारी अथवा परम ज्ञान है।

समस्त अभिव्यक्ति क्रिया के रूप में है। रूप और शब्द के रूप में क्रियायें हैं। ये सभी क्रियायें मानव के लिए क्रांति, प्रतिक्रांति संवेग एवं प्रयोग के लिए सहायक सिद्ध हुई हैं।

दूसरे का प्रभाव आवश्यकता एवं अवस्था पर निर्भर करता है। विकास के क्रम में ही सम्पूर्ण इकाईयों की अवस्थाएँ हैं। संगठन-विघटन भेद से रूप, रूप-भेद से अवस्था, अवस्था भेद से विकास, विकास भेद से माध्यम, माध्यम भेद से क्षमता, क्षमता भेद से प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठा भेद से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति भेद से क्रिया, क्रिया भेद से प्रगति, प्रगति भेद से परिणाम व परिमार्जन, परिणाम व परिमार्जन भेद से योग-वियोग तथा योग-वियोग भेद से संघटन एवं विघटन है।

अमानवीयता की सीमा में विश्राम नहीं है। मानवीयता की सीमा में ही विश्राम है। निर्भ्रमता ही निर्भयता, निर्भयता ही विश्राम तथा विश्राम ही निर्भ्रमता है।

5. जीवन विद्या (क्र. ५)

22 – Nov. 91.

अस्तित्व ही सहअस्तित्व, विकास जीवन जीवन जागृति, रासायनिक भौतिक रचना विरचना, पूरकता वर्तमान है यही समझदारी है।

मानव कृत – उच्च शिक्षा का भूमिका

मानव अपनी संपूर्णता में जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप है। शरीर सम्बन्धी विश्लेषण यहां संक्षिप्त है, अपितु शरीर का प्रयोजन या उपयोग जीवन के लिए क्या है, इतने को ही आगे स्पष्ट किया गया है।

जीवन के आधार पर ही मनुष्य की महिमा, गरिमा और कार्य स्पष्ट होना ही “जीवन विद्या” है। यह मूलतः जीवन-ज्ञान ही है। चूँकि जीवन प्रत्येक व्यक्ति का स्वत्व है अतः जीवन ज्ञान प्रमाणित होना सहज है।

मनुष्य का संपूर्ण लक्ष्य व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी, व्यवस्था का प्रमाण (स्वयं में व्यवस्था) और समग्र व्यवस्था में भागीदारी होना है। इसका स्रोत जीवन और जीवन गत अक्षय बल, अक्षय शक्ति रूपी महिमा ही है। इस प्रकार जीवन की आंशिक महिमा, व्यवहार में सामाजिकता को, व्यवसाय में स्वावलम्बन को बनाए रखना, व्यवस्था में विश्वास और उसकी निरंतरता को, प्रमाणित करना और बनाए रखने योग्य परम्परा को स्थापित करना है।

जीवन विद्या का आधार अस्तित्व है। उसका प्रमाण प्रत्येक मनुष्य है। प्रत्येक मनुष्य में शरीर की विविधता देखने को मिलती है। शरीर रचना के मूल तत्व प्राण कोषा है और वह मूलतः समान है। जबकि प्रत्येक जीवन में अक्षय बल, अक्षय शक्तियों की समानता है और जीवन जागृति क्रम में उसके प्रकाशन, संप्रेषण एवं अभिव्यक्ति में विविधता है। जीवन जागृति की स्थिति में सार्वभौम है होना पाया जाता है। जिससे अर्ध जागृत, जागृत और पूर्ण जागृत भेदों में वर्गीकृत है।

मानव परंपरा में प्रमाणों को प्रमाणित करने का क्रम या आवश्यकता पहले से ही है। एवं अभी भी है तथा निरंतर रहेगी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानव में, से, के लिए प्रामाणिकता परम महत्वपूर्ण है।

जीवन विद्या के प्रकाश में यह भी सूत्र मानव परंपरा को करत लगत है कि पूर्णता के अनंतर पूर्णता की निरन्तरता होती है। अस्तित्व परम-पूर्ण है और अस्तित्व में प्रत्येक एक, पूर्णता का अंकुर सम्पन्न है।

जीवन गठन पूर्ण पद में व उसकी निरन्तरता में प्रकाशित है ही जागृति क्रम क्रियापूर्णता, आचरण पूर्णता व उसकी निरन्तरता का होना, जागृति सहज अभिव्यक्ति है। इसीलिए जीवन क्रिया पूर्णता और आचरण पूर्णता के निरन्तरता की पूर्णता के अनंतर उसकी निरन्तरता क्रम में ही देखने को मिलता है।

अस्तित्व में दृष्टा पद प्रतिष्ठा, जीवन में समाहित है अथवा दृष्टा पद प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण कारक तत्व जीवन में ही समाहित है।

जीवन और अस्तित्व का दृष्टा अस्तित्व सहित जीवन ही है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व में विकास की यात्रा, दृष्टा पद प्रतिष्ठा तक है। इसी के साथ यह भी स्पष्ट होना सहज है कि जीवन विद्या के मूल स्वरूप में जीवन-जागृति ही प्रधान अर्थ है।

जीवन विद्या और वस्तु विद्या का अविभाज्य अध्ययन (आत्मा, अनुभव की साक्षी में स्मरण पूर्वक किया गया संपूर्ण किया कलाप) की अनिवार्यता इस प्रकार से समीचीन हुई कि अस्तित्व में जड़ प्रकृति और चैतन्य प्रकृति का सहअस्तित्व सहज है। इसके मूल में अस्तित्व स्वयं सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही संपूर्ण भाव और सहअस्तित्व होना है। इससे यह पता लगता है कि अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व महिमा संपन्न है। सहअस्तित्व की महिमा से मुक्त होने अथवा दूर होने का दिशा काल देश नहीं है। इसलिए सहअस्तित्व का प्रभाव, अथवा प्रभाव क्षेत्र सतत अस्तित्व में होना पाया जाता है। इसलिए अस्तित्व मूलक सहअस्तित्व सहज प्रणाली मनुष्य के अध्ययन के लिए वस्तु होना शाश्वत सत्य है। इस प्रकार सहअस्तित्व का वैभव स्वयं स्पष्ट होता है। इसी क्रम में जड़ प्रकृति और चैतन्य प्रकृति का अस्तित्व होना भी सहज है। प्रत्येक मनुष्य में जड़ प्रकृति, प्राण कोशिकाओं से रचित शरीर के रूप में दृष्टव्य है। चैतन्य प्रकृति- आशा विचार इच्छा संकल्प अनुभव रूपी अक्षय शक्ति और मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, आत्मा रूपी अक्षय बल के संयुक्त रूप में अध्ययनगम्य है। यह दोनों सत्ता में अर्थात् अरूपात्मक स्थिति पूर्ण वैभव में संयुक्त रहना देखने को मिलता है देखने का तात्पर्य समझने से है। इस यथार्थ - स्थिति से यह स्पष्ट होता है कि जड़ चैतन्य प्रकृति का सहअस्तित्व स्वयं किसी प्रयोजन के अर्थ में है, उस प्रयोजन को समझना ही अध्ययन का अर्थ है। अर्थात् जीवन दृष्टा पद में होने का अर्थ है। जीवन जागृति दृष्टा पद का द्योतक है।

अस्तित्व में, अस्तित्व का दृष्टा जीवन ही होना प्रमाणित होता है। मूलतः शरीर का भी दृष्टा जीवन ही है। शरीर की जीवंतता प्रदान करने वाला भी जीवन है। जीवन विहीन शरीर का अथवा शरीर से कोई व्यावहारिक अर्थ सिद्ध नहीं हो पाती। यही सहअस्तित्व की महिमा और कार्य प्रमाणित होता है। दूसरी महिमा - जीवन अपने आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभूति के आधार पर सभी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को संचालित करता है अथवा जीवन से संचालित होता है, तीसरा - शरीर के द्वारा जीवन अपने आचरणों को व्यक्त करता है। ऐसा आचरण ही व्यवस्था, व्यवहार, व्यवसाय और अध्ययन के रूप में और कायिक, वाचिक, मानसिक, कृतकारित, अनुमोदित क्रिया कलापों के रूप में देखने को मिलता है, और प्रमाणित होता है। इसकी सहज समीचीनता को प्रत्येक व्यक्ति में कहे गए चारों आचरण के प्रति आशयों का होना सर्वेक्षण पूर्वक प्रमाणित होता है। इस प्रकार अस्तित्व में अध्ययन करने की वस्तु, अस्तित्व, सहअस्तित्व, विकास, जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक-भौतिक रचना और विरचनाएं हैं। इससे अधिक अस्तित्व में अध्ययन के लिए वस्तु नहीं है, इससे कम में अध्ययन पूरा होता नहीं है।

अस्तित्व और जीवन जागृति, व्यवस्था के अर्थ में समीकृत होता है। अर्थात् व्यवहारान्वयन क्रियान्वयन बोधगम्य, आचरणगम्य होता है। व्यवस्था स्वयं वर्तमान में विश्वास, वर्तमान में विकास और वर्तमान में स्वभाव गति, यह दृष्टा

पद प्रतिष्ठा में होने वाली प्रमाण और प्रामाणिकता है। प्रकारांतर में इस सहज आशय से प्रत्येक मनुष्य में आशा, आकांक्षा, अभीप्सा के रूप में होना पाया जाता है या कल्पना के रूप में भी पाया जाता है। इन तथ्यों को अवलोकन करने पर यह पता लगता है कि प्रत्येक मनुष्य में कर्म स्वतंत्रता और कल्पनाशीलता सहज रूप में व्यक्त होते रहता है। ऐसे दोनों वैभव के तृप्ति बिंदु को पहचानना एक आवश्यकता है अथवा अनिवार्यता है इस आधार पर हम इस बात को अर्थात् मनुष्य इस बात को प्रमाणित करने के लिए योग्य है कि कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु स्वराज्य के रूप में, और कर्म स्वतंत्रता का तृप्ति बिंदु स्वानुशासन के रूप में प्रमाणित होता है तथा अध्ययनगम्य और बोधगम्य भी है।

आचरण व्यवहारगम्य होता है। यह ही जीवन विद्या की रोशनी में दिखने वाले और समझ में आने वाले तथ्य हैं। इसी के साथ और भी एक यथार्थ समझ में आता है कि मनुष्य के शरीर में कोई ऐसा अवयव नहीं है जो, न्याय की अपेक्षा करता हो, प्रयत्न करता हो। इस बात को समझने के उपरांत यह भी समझ में आता है कि नियम, न्याय, समाधान, सत्य का दृष्टा शरीर नहीं हो पाता, जीवन ही होता है। इन तथ्यों के आधार पर शरीर और जीवन के सहअस्तित्व में शरीर की उपयोगिता, जीवन की प्रयोजनीयता दोनों साक्षित हो पाते हैं। इसे केवल जीवन विद्या के नजरिया से ही देखा जाता है और समझा जाता है। इस प्रकार मानव परम्परा का वैभव और उसका स्रोत समझ में आता है। जीवन अपनी जागृति स्वानुशासन के रूप में सर्वसुलभ प्रमाणित करती है। साथ ही शरीर का उपयोग मानव परम्परा में समाज गति के अर्थ में प्रमाणित हो पाती है। यद्यपि इसमें जीवन जागृति ही प्रधान वस्तु है। इस प्रकार जीवन के अभिव्यक्त होने का माध्यम शरीर है और शरीर का उपयोग मानव परंपरा के अर्थ में है न कि व्यक्ति के अर्थ में।

जीवन जागृति का सत्यापन व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी और प्रत्येक मनुष्य स्वयं में एक व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में है। यही मानव परंपरा का वैभव है। मानव अपने में उक्त वैभव के आधार पर अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था है। जो सदा सदा के लिए प्रत्येक मनुष्य से सम्पूर्ण मनुष्य तक समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को निरंतर उदयशील बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण सामर्थ्य संपन्न है। यही धरती को स्वस्थ, सुंदर समाधानपूर्ण पद्धति-प्रणाली और नीतियों का कला वैभव है, जिसको प्रमाणित करने की अर्हता को प्रदान करना ही शिक्षा संस्कार की सार्थकता है। उसे मूल्यांकन करने की विधि ही स्वयं व्यवस्था है और शरीर पोषण, संरक्षण समाज गति के लिए अर्पित होना सम्पूर्ण उत्पादन का उद्योग, सदुपयोग और प्रयोजन है। इस विधि से मानव व्यवस्था, अखण्ड समाज, सामाजिकता और समृद्धि की अविभाज्य अभिव्यक्ति है। यही वस्तु विद्या और जीवन विद्या की संयुक्त शिक्षा का प्रयोजन है तथा यही उच्च शिक्षा का अभीष्ट।

6. जीवन विद्या (क्र. ६)

दिव्यपथ संस्थान, अमरकंटक,

29.8.91

जीवन विद्या – जीवन को निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक जानने मानने का क्रियाकलाप है।

1. निरीक्षण :- स्वयं को और दूसरे को रूप, गुण, स्वभाव धर्म को संबंधी धर्म और उसके संबंध में है।
2. परीक्षण :- जो रूप, गुण, स्वभाव धर्म को देखा गया वह उसी प्रकार स्वयं में और दूसरे मनुष्य में कार्य कर रहा है या नहीं, इसका निष्कर्ष निकालना ही परीक्षण कार्य है।
3. सर्वेक्षण :- जीवन का स्वरूप, कार्य, प्रभाव, परिणाम स्वयं में और दूसरे में समान है कि नहीं इस बात को जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित करता है।

अध्याय -1

मनुष्य मनुष्य के साथ पहचानना और निर्वाह करना जानना मानना ही शाश्वत कसौटी है।

जीवन का अर्थ :- कार्य रूप में जानना, मानना, पहचानना निर्वाह करना है। जीवन अपने में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प जैसी अक्षय शक्तियां एवं मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा जैसी अक्षय बल का अविभाज्य वर्तमान है।

1. मन - आशा पूर्वक चयन और आस्वादन करने की क्रिया है।
2. वृत्ति - विचार पूर्वक विश्लेषण करने की क्रिया है।
3. चित्त - इच्छा पूर्वक चित्रण और चिंतन करने की क्रिया।
4. बुद्धि - अपने संकल्प सहित बोध और अवधारणात्मक क्रिया।
5. आत्मा - प्रामाणिकता सहित जानने मानने की क्रिया।

मनुष्य ही स्वयं जीवन का अध्ययन करेगा और अध्ययन का वस्तु भी है।

मुख्य रूप से जीवन का अध्ययन अपने प्रयोजन के रूप में स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान है।

अध्याय -2

मनुष्य के जीवन शक्तियां और बल का जागृति पूर्वक व्यक्त होना।

1. अर्ध जागृति पूर्वक व्यक्त होना।

2. जागृतिपूर्वक अभिव्यक्त होना।

जागृति के आधार पर ही मनुष्य दिव्य मानव, देव मानव, मानव, राक्षस मानव, पशु मानव के रूप में प्रकाशित होना पाया जाता है जिसका स्पष्ट अध्ययन

1. मानवीयता का स्वभाव, विषय, विषय प्रवृत्ति और दृष्टियों का क्रियाशीलता इसी प्रकार
2. देवमानव का स्वभाव, विषय, प्रवृत्ति और दृष्टियों की क्रियाशीलता
3. दिव्य मानव का स्वभाव, विषय और दृष्टियों की क्रियाशीलता.
4. अमानवीयता का स्वभाव, विषय, प्रवृत्ति, दृष्टियों की क्रियाशीलता

अध्याय-3

मानवीयता ही मानवीय शिक्षा, संस्कार, राज्य धर्म व्यवस्था का आधार यही शिक्षा के मानवीयकरण का अर्थ भी है।

मानवीयकरण होने का प्रयोजन स्वराज्य व्यवस्था में मानवीय शिक्षा संस्कार, न्याय सुरक्षा, उत्पादन कार्य, विनिमय कोष, स्वास्थ्य संयम अविभाज्य रूप में वर्तमान होता है उसकी निरंतर गति मानवीयता के आधार पर अर्थात् मानवीयता को असंदिग्ध रूप में जानने, पहचानने, मानने, निर्वाह करने के रूप में सहज सुलभ हो पाता है। जीवन तृप्ति स्वतंत्रता के रूप में स्वानुशासन के अर्थ में सार्थक होता है जिसका नामकरण स्वतंत्रता है। इसी प्रकार जीवन विद्या का फलन स्वतंत्रता और स्वराज्य है।

अध्याय-4

जीवन जागृति क्रम में अस्तित्व, अस्तित्व में विकास।

जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक भौतिक रचना और विरचना का जानने, मानने की सहज विधियाँ।

अस्तित्व में जीवन का उद्देश्य विकास का उद्देश्य का अध्ययन सुलभ होना। अस्तित्व में मनुष्य दृष्टा पद प्रतिष्ठा में परंपरा के रूप में नित्य वर्तमान होना।

अध्याय - 5

मानवीयतापूर्वक गुणात्मक विकास के क्रम में पूरकता प्रणाली पद्धति तथा तन, मन, धन रूपी अर्थ का सदुपयोग सुरक्षा रूपी नीतिपूर्वक नीति संपन्न जीने की कला उसका नित्य उत्सव है।

जिससे ही सौन्दर्य बोध और सौंदर्य, सौंदर्य और सुख, सौंदर्य और समाधान का नित्य संबंध, वर्तमानित होता है।

मूल्यमूलक – लक्ष्यमूलक प्रणाली से मानवीयता का संरक्षण, संवर्धन एवं नित्य उत्सव मानव परंपरा में सफल होता है।

अध्याय – 6

प्रत्येक मनुष्य व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी, बौद्धिक रूप में समाधानित, नित्य सहअस्तित्व में वर्तमान होने के रूप में स्वयं का एवं व्यवस्था का अध्ययन सहज है।

अध्याय – 7

जीवन का मूल रूप, जीवन का कार्य रूप, जीवन का तत्व रूप में उद्देश्य समायी हुई है जो स्वयं समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व ही है। जीवन के उद्देश्यानुसार व्यवहृत होने के क्रम में जीवन जागृति की व्यवस्था और उसकी अपरिहार्यता स्पष्ट होता है। जिसे जीवन के कार्य रूप और महिमा रूप में पूर्ण विश्वास और निष्ठा के रूप में प्रमाणित किया जाता है अथवा प्रमाणित होता है।

अध्याय – 8

मनुष्य ही जीवन जागृति को प्रमाणित करता है। जिसकी पुष्टि का आधार प्रत्येक मनुष्य में पायी जाने वाली कर्म स्वतंत्रता और कल्पनाशीलता है। वह (मनुष्य) जन्म से न्याय का याचक, सही करने का इच्छुक, सत्यवक्ता होने का सहज प्रकाशन और प्रत्येक मनुष्य का "मनाकार को साकार करने वाला मनः स्वस्थता का आशावादी उसका होना" वर्तमान होना प्रमाणित है।

अध्याय – 9

मनुष्येतर प्रकृति में भी पहचानना निर्वाह करना, की क्रिया स्पष्ट है, व जानना मानना का प्रमाण केवल मनुष्य में वर्तमान है। जानने मानने की संपूर्ण वस्तु अस्तित्व विकास, जीवन जागृति, रासायनिक भौतिक रचना विरचना रूपी परिणाम है। पहचानने निर्वाह करने की संपूर्ण वस्तु मानव सम्बन्ध, नैसर्गिक संबंध और उनमें निहित मूल्य है।

परिष्कृतिपूर्ण मानव संचेतना, उसकी निरंतरता रूपी परंपरा, मानवीयतापूर्ण मानव परंपरा है।

परिष्कृतिपूर्ण मानव संचेतना का स्वरूप : – 3 जो समीचीन है

1. अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन ज्ञान ।
2. विकास विधि (पूरकता + उदात्तीकरण = जागृति) जागृति मूलक व्यवहार प्रमाण सम्पन्न अध्ययन, प्रयोग जीने की कला।
3. जीने की कला ही व्यवस्था है। वर्तमान में विश्वास और सुख सहज सुलभ होना समीचीन है, जो स्वतंत्रता और स्वराज्य का नित्य स्रोत है। स्वतंत्रता जो स्वानुशासन सर्वतोमुखी समाधान का प्रकाशन है।

7. जीवन विद्या (क्र. ७)

दिनांक - २४ / ०५ / १९९५

*नागराजजी से सुने हुए का श्रोता द्वारा प्रतिलेखन

मूल मुद्दा अध्ययन के लिए :-

- सहअस्तित्ववाद दर्शन का सैद्धांतिक पक्ष - अस्तित्व की धारणा
- विशेष रूप से न्याय और धर्म की तो सामाजिक उपयोगिता समझ में आती है , लेकिन न्याय, धर्म और सत्य का जुड़ाव या यों कहें कि सत्य या अस्तित्व की अवधारणा की आवश्यकता के बारे में संतुष्टि नहीं है। जब समाधान धर्म में पूरा हो जाता है - जो कि सुख के लिए काफी है तो सत्य कि क्या आवश्यकता है ?

(श्री नागराज जी के साथ हुए अध्ययन का सारांश निम्नलिखित है - करीब चार दिन की बातचीत में अलग अलग विषयों पर बाबाजी ने प्रकाश डाला। उनका संग्रह करके मुख्य बिंदुओं के रूप में नीचे प्रस्तुत किया है। चूँकि सारे विषय एक दूसरे से जुड़े हैं इसीलिए वही विषय बातचीत के दौरान कई बार आए लेकिन नीचे इन्हें अलग-अलग बिंदुओं में रखा गया है यह सिर्फ सुविधा के लिए हैं।)

अस्तित्व :-

अस्तित्व में निश्चयता एवं स्थिरता है, ये न घटता है न बढ़ता है। अस्तित्व के दो अंग रूपात्मक तथा अरूपात्मक भी अपने में अविभाज्य हैं। दो इकाइयों के बीच में सत्ता है। प्रकृति सत्ता में डूबी हुई है तथा ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ सत्ता नहीं - सत्ता व्यापक है। इकाई के सभी ओर सत्ता दिखती है। इकाई का सत्ता में डूबे रहने, घिरे रहने व भीगे रहने के कारण उसमें क्रियाशीलता, नियंत्रण, बल संपन्नता होती है। सत्ता को ऊर्जा भी माना गया है तथा सत्ता में संपृक्त प्रकृति ऊर्जामय है। ऊर्जामयता के कारण ही बल संपन्नता है।

ऊर्जामयता → बल संपन्नता → भार (सिर्फ जड़ में) → चुंबकीय गुण → एकदूसरे के साथ सहअस्तित्व को बनाए रखने की प्रवृत्ति। इस प्रकार अस्तित्व ही सहअस्तित्व है का सूत्र पता लगता है। सहअस्तित्व का सूत्र है कि प्रत्येक वस्तु त्व सहित (रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहित) व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का निर्वाह करता है। एक इकाई दुसरे इकाई को पहचानने की व्यवस्था का नाम प्रकाशन है। हर वस्तु अनंत कोणों में प्रतिबिम्बन सहित रहती है - इसी का नाम है प्रकाशमानता। प्रत्येक छोटी से छोटी या बड़ी से बड़ी वस्तु अपने से प्रकाशमान है। इसकी गवाही उनका प्रतिबिम्बन है। ऊर्जा संपन्नता, बल संपन्नता, क्रियाशीलता के कारण ही प्रकाशमानता है। प्रतिबिम्ब में ऊर्जा का आदान-प्रदान नहीं होता इसीलिए प्रकाश में कोई दबाव या तरंग नहीं होती न ही उसमें कोई गति होती है।

ऊर्जामयता के कारण ही प्रत्येक वस्तु स्वयं स्फूर्त रूप से क्रियाशील है। सत्ता पारगामी होने के कारण ऊर्जामयता है। अरूपात्मक अस्तित्व या सत्ता तो व्यापक है और रूपात्मक अस्तित्व जिसमें जड़ तथा चैतन्य इकाइयां हैं, अनंत है।

परमाणु :-

व्यवस्था का आधार परमाणु ही होता है। निश्चित आचरण का प्रमाण परमाणु में ही होता है न कि परमाणु अंश में। Quantum Mechanics के अनुसार परमाणु अंश में अनिश्चितता है। निश्चित आचरण परमाणुओं द्वारा संरचित अणुओं का भी आचरण निश्चित होता है। परमाणु दो प्रकार के होते हैं - जड़ तथा चैतन्य। जड़ परमाणु रासायनिक भौतिक रचना विरचना में भाग लेते हैं। चैतन्य परमाणु ही जीवन है। निश्चित आचरण के रूप में परमाणु तथा परमाणु अंश में साथ रहने की प्रवृत्ति है। यही व्यवस्था का आधार है। यह तात्त्विक रूप में अनुस्यूत रूप में पाया जाता है। रूप, गुण, स्वभाव तथा धर्म में परमाणु अंश सभी एक ही प्रकार के होते हैं। जड़ परमाणु में एक से अधिक परमाणु अंश मध्य में रहते हैं तथा उतनी ही संख्या में परमाणु अंश परिवेश (orbit) में रहते हैं। मध्य में एक से अधिक अंश के कारण ही जड़ परमाणु में भार होता है। भार बंधन के कारण ही अणुबंधन होता है। विकास के क्रम में जब जड़ परमाणु के मध्य में सिर्फ एक अंश रह जाता है तो वह गठन पूर्ण होकर चैतन्य परमाणु बन जाता है तथा यह परमाणु भार विहीन एवं अणुबंधन से मुक्त हो जाता है।

प्रकृति में दो प्रकार के जड़ परमाणु हैं - भूखे और अजीर्ण परमाणु। भूखे परमाणुओं में अपनी आवश्यकता से कम परमाणु अंश रहते हैं तथा अजीर्ण में अपनी आवश्यकता से अधिक परमाणु अंश। इन्हीं परमाणु अंशों के आदान - प्रदान से अणुबंधन होता है। परमाणुओं में श्रम, गति, परिणाम के रूप में अनुस्यूत क्रिया दिखती है। परमाणु तथा परमाणु अंशों की सत्ता में संपृक्त रहने के कारण ही परमाणु में क्रियाशीलता रहती है। इसी क्रियाशीलता या बल संपन्नता को परमाणु श्रम, गति व परिणाम के रूप में व्यक्त करता है। परमाणु में दो प्रकार की गतियाँ होती हैं, वर्तुलात्मक तथा कंपनात्मक। स्वभाव गति रहेगी तो परमाणु व्यवस्था में काम करेगा। आवेशित गति होने पर अव्यवस्था उत्पन्न होगी।

हर क्रिया श्रम, गति, परिणाम के रूप में व्याख्यायित होती है। श्रम तथा गति का संयोग नए परिणाम के रूप में होता है। परिणाम में श्रम के संयोग से गति उत्पन्न होती है। परिणाम और गति के संयोग में श्रम का मूल्यांकन होता है। जड़ परमाणु के गठन पूर्ण होकर चैतन्य पद में प्रवेश करने पर परिणाम का अमरत्व हो जाता है। कंपनात्मक गति बढ़कर मनोगति के समान हो जाती है। गठनपूर्ण होने पर परमाणु अंशों का परमाणु में से आवागमन बंद हो जाता है तथा गठन पूर्ण परमाणु के परिवेश में कुल साठ अंश (चार परिवेशों में 2, 8, 18, 32 क्रमशः) अंश होते हैं और मध्य में एक अंश।

इस आधार पर भूखे जड़ परमाणुओं की संख्या 60 तथा अजीर्ण परमाणुओं की संख्या 60 है। कुछ जड़ परमाणुओं की अधिकतम संख्या 120 है।

प्रकृति :-

सम्पूर्ण प्रकृति चार अवस्थाओं में अभिव्यक्त है। जड़ परमाणुओं में भार बंधन के कारण अणुबंधन होता है। अणुबंधन से ही रचना विरचना होती है। भौतिक वस्तुएं ठोस तथा विरल रूप में पाई जाती हैं। ठोस पदार्थ ही कोशिका के रूप में रचित होते हैं। ब्रह्माण्डीय किरणों के आधार पर संयोग वियोग से रासायनिक वस्तुएं तरल रूप में दिखाई पड़ती हैं। रासायनिक द्रव्यों की उपस्थिति में तथा ऊष्मा के दबाव में कोशिका में अनुकूल परिस्थितियों में प्राण संप्रेषित होता है। रचना में अनुसंधान विधि होती है। नई रचनाएँ पुरानी रचनाओं से बनती हैं। एक प्रजाति दूसरी प्रजाति में या एक जाति में दूसरी जाति में अवतरित होने की व्यवस्था प्रकृति में है। यह अनुसंधान प्रवृत्ति (प्राणसूत्र रचनासूत्र में) Chromosomes में होती है। जब अपनी प्रजाति धरती पर तृप्त हो जाती है तो अनुसंधान द्वारा दूसरी प्रजाति का संक्रमण होता है। किसी दूसरी प्रजाति के अवतरित होने के पहले प्रकृति में अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इस समय धरती पर प्रकृति चार अवस्थाओं – पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था में अभिव्यक्त है, पदार्थावस्था में निष्प्राण इकाइयाँ नियमपूर्वक हैं। नियम तथा नियंत्रणपूर्वक प्राणावस्था है। नियम, नियंत्रण, संतुलन सहित समाधान ज्ञानावस्था की मौलिकता है। नियंत्रण में नियम, संतुलन में नियम और नियंत्रण तथा न्याय में नियम, नियंत्रण एवं संतुलन समाहित है। पदार्थावस्था तथा प्राणावस्था में जड़ प्रकृति है तथा जीवावस्था व ज्ञानावस्था में जड़ एवं चैतन्य दोनों प्रकृतियाँ हैं। परिणामानुषंगी विधि पदार्थावस्था में मौलिकता है, वंशानुषंगी विधि जीवावस्था में मौलिकता है और संस्कारानुषंगी विधि ज्ञानावस्था में मौलिकता है। प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था सभी प्राण कोशिकाओं द्वारा रचित हैं। पदार्थ में ब्रह्माण्डीय नियंत्रण होता है तथा वनस्पतियों में नैसर्गिक नियंत्रण। जीव संसार में जीवन में आशाबंधन क्रियाशील रहता है। यह आशा सिर्फ जीवित रहने की होती है। शरीर ही जीने की स्थली है ऐसा भ्रम रहता है। इसीलिए इंद्रिय संरचना के अनुसार जीवन स्वयं नियंत्रित हो जाता है। सारा कार्य इंद्रिय सन्निकर्ष होता है। कुछ जीवों में विचार बंधन भी देखने को मिलता है

मनुष्य के जीवन में आशा विचार तथा इच्छा बंधन रहता है। इसी आधार पर जीवन शरीर को चलाता है। जीवन ही मनुष्य को जीवंत रखता है। शरीर में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा एक विकसित मेधस रचना होती है। जीवन मेधस पर अपने संकेतों को प्रसारित करके ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को संचालित करता है। मेधस की रचना पूर्ण होने के साथ गर्भ में ही जीवन शरीर को संचालित करना शुरू कर देता है। शरीर यात्रा पूरी होने पर जीवन सत्ता में चैतन्य परमाणु के रूप में विद्यमान रहता है। जीवन कार्य गति पथ सहित अपने में एक पुंजाकार है। वह एक आकार है। उस आकार की शरीर रचना वंशानुषंगी विधि से उपलब्ध रहती है। भोग इच्छा के अनुसार जीव या मनुष्य शरीर का चयन होता है। जीव संसार में इंद्रिय सन्निकर्षात्मक अपनी प्रजाति में संघर्ष होता है। ऐसा संतुलन के अंतर्गत होता है। वंशानुषंगी विधि में अपने त्व सहित व्यवस्था बनाए रखने का नाम ही संतुलन है। वनस्पति संसार में वृक्ष से बीज तथा बीज से वृक्ष ही आवर्तनशीलता का नाम ही नियंत्रण है। ज्ञानावस्था में मनुष्य के साथ न्याय तथा मनुष्येतर प्रकृति के साथ नियम के आधार पर समाधान एवं संस्कारानुषंगी विधि में व्यवस्था है।

मनुष्येतर प्रकृति व्यवस्था में स्थापित है। मनुष्य अपनी संस्कारानुषंगी विधि को न स्वीकार करने के कारण वंशानुषंगी विधि से जीता हुआ अतृप्त रहा है। लेकिन हर मनुष्य व्यवस्था में जीना चाहता है, इसीलिए उसे जीवन जागृति की आवश्यकता है।

जीवन जागृति :-

शरीर की रचना विशेषता के कारण मनुष्य को कर्मस्वतंत्रता एवं कल्पनाशीलता प्राप्त है इसीलिए अभी तक शरीर व्यवस्था के आधार पर जीवन में व्यवस्था तथा क्रियाएं नहीं पहचानी गई हैं। अभी तक मनुष्य आशा विचार तथा इच्छा शक्तियों के बंधन में जी रहा है और चयन, आस्वादन, तुलन (प्रिय, हित, लाभ के आधार पर) विश्लेषण तथा चित्रण क्रियाओं में कार्य करता है। आशा, विचार तथा इच्छा बंधन के अनुसार जो कल्पनाएँ चित्रण में आईं उन्हें मनाकर से साकार करने में उसे तृप्ति नहीं मिल रही। इस बंधन के आधार पर उसे सुविधा और संग्रह की संस्कृति मिली जिनका कोई तृप्ति बिन्दु नहीं है। अस्तित्व में अध्ययन विधि से मनुष्य को जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन तथा मानवीयतापूर्ण आचरण के माध्यम से जागृति की व्यवस्था है। शोध विधि (वर्तमान के पीछे का सूत्र) से मनुष्य को जीवन ज्ञान और अस्तित्व दर्शन तथा अनुसंधान (आगे के सूत्र) से मानवीयतापूर्ण आचरण प्राप्त हुआ है। जागृति की यह विधि मानव केंद्रित अस्तित्वमूलक चिंतन पर आधारित है जबकि पिछली रहस्यमूलक अध्यात्मवादी विधियाँ और अनिश्चयता तथा अस्थिरतामूलक भौतिकतावादी विधियाँ असफल रही हैं। ज्ञानावस्था का प्रयोजन ही है जीवन द्वारा अपनी समझदारी अनुरूप शरीर को चलाते हुए जागृति को प्रमाणित करना।

अभी तक प्रिय, हित, लाभ में जीता हुआ मनुष्य भय, प्रलोभन, आस्था के आधार पर व्यवस्था खोज रहा है। धर्म और राज्यगद्दी दोनों ने ही मनुष्य को भ्रमित किया है तथा भय, प्रलोभन और आस्था में ही जीने को मजबूर किया है। जरूरत है आस्था को स्वयं में विश्वास में बदलने की। स्वयं में विश्वास, श्रेष्ठता का सम्मान, प्रतिभा एवं व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में सामाजिक तथा व्यवसाय में स्वावलंबी स्वायत्त मानव परिवार में प्रमाणित होता हुआ समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व को प्राप्त कर परिवारमूलक स्वराज्य का आधार बनेगा तथा अपेक्षित तृप्ति को प्राप्त करेगा। यह कार्यक्रम चिंतन द्वारा न्याय के माध्यम से ही सफल होगा। न्याय का मतलब है संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन तथा उभय तृप्ति।

अभी तक हम भाषा को ही ज्ञान मानते आये हैं बिना वस्तु को समझे। जीवन विद्या में वस्तु की समझ मुख्य है और यही ज्ञान है। समझने की वस्तु अस्तित्व है तथा अस्तित्व ही सहअस्तित्व है सब को पहचानकर निर्वाह करने की आवश्यकता है। अस्तित्व दर्शन ही परम दर्शन है तथा जीवन ज्ञान ही परम ज्ञान।

परमाणु का चैतन्य पद में आते ही परिणाम का अमरत्व हो जाता है। इसके पश्चात् श्रम और गति एक दूसरे को समर्पित रहते हुए जागृति के लिए प्रयासरत रहते हैं। बोधपूर्वक चिंतन द्वारा संबंधों में मूल्यों का निर्वाह होने पर मानव अपने मानवत्व सहित व्यवस्था में जीता है तथा समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करता है। यह समाधान और उसकी निरन्तरता ही श्रम के विश्राम की स्थली है। गति अनुभव और उसकी प्रमाणिकता में अपने गंतव्य को प्राप्त

करती है। जीवन जागृति को प्रमाणित करने की विधि ही व्यवस्था है। तथा अनुभव का स्रोत ही ज्ञान है। अस्तित्व सहज विधि से जीने के लिए अस्तित्व दर्शन की आवश्यकता है। अस्तित्व का प्रयोजन जागृति है। मनुष्य का प्रयोजन समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व तथा जीवन का प्रयोजन आत्मा का आनंद, बुद्धि में संतोष, चित्त में शांति और वृत्ति में सुख है। जागृतिपूर्णता के उपरान्त जीवन मुक्त पद में सुख, शांति, संतोष, आनंद को प्राप्त कर ब्रह्माण्ड में विचरण करता है। जागृति के लिए परंपरा का सहारा चाहिए अध्ययन के रूप में। अध्ययन में न्याय, धर्म, सत्य का बोध हो जाना चाहिए। जीवन प्रकाश में अस्तित्व प्रतिबिंबित रहता है। इसका बोध अध्ययन द्वारा होता है।

न्याय का बोध होने पर हम संबंधों को पहचान कर मूल्यों का निर्वाह करते हैं। चिंतनपूर्वक मूल्यांकन द्वारा अभय तृप्ति मिलती है। यह तृप्ति मन विचार का सुख और उसकी निरंतरता का स्वरूप बनती है। धर्म का बोध होने पर सहअस्तित्व में सर्वतोमुखी समाधान दिखता है। फलस्वरूप व्यवस्था और समाधान चिंतन में आता है। धर्म के बोध से वृत्ति चित्त के अनुरूप होती है। इसके बाद अस्तित्व के रूप में सत्य चिंतन में आता है तथा चित्त एवं बुद्धि तृप्त होती है। बोध की तृप्ति होती है। अनुभवमूलक विधि से सत्य की प्रमाणित करने पर बुद्धि एवं आत्मा तृप्त हो जाती है। सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व जो जीवन पर प्रतिबिंबित है को जब जीवन अभिव्यक्त करता है तो उसे अनुभव व प्रामाणिकता कहते हैं। चयन, आस्वादन, तुलन, विश्लेषण एवं चित्रण क्रियाओं को पहचानना एवं निर्वाह करना संवेदनशीलता कहलाता है। चिंतन, बोध, संकल्प, अनुभव तथा प्रामाणिकता की क्रियाओं को जानना एवं मानना संज्ञानशीलता कहा गया है। यही मानव संचेतना का पूर्ण स्वरूप है।

8. जीवन विद्या (क्र. ८)

दिनांक 28-2-89

अस्तित्व में जीवन विद्या और जीवन केन्द्रित जागृति लक्षित अभ्यास की परिस्थिति, स्थिति व गति आवश्यकता संभावना, स्रोत, प्रक्रिया एवं प्रयोजन

अस्तित्व में जीवन-जागृति लक्षित अभ्यास के लिए अनुकूल परिस्थिति -

1. विभिन्न अभ्यास परम्पराओं में अंतर्विरोध होना।
2. अनुभव बल, विचार-शैली एवं जीने की कला में अंतर्विरोध होना।
3. ध्यान, ध्येय व ध्याता में अंतर्विरोध होना।
4. दृष्टा, द्रष्टव्य व दर्शन में अंतर्विरोध होना।
5. अभ्यास, अभ्यास का परिणाम, फल एवं प्रभाव का शिक्षा व व्यवस्था से सूत्रित, व्याख्यायित न हो पाना।

ये सभी परिस्थितियां विकल्प के लिए प्रेरक हैं, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य कर्म स्वतंत्र एवं कल्पनाशील है।

“मानव संस्कार बीजानुशंगीय परंपरा है”

अस्तित्व में जीवन विद्या प्रत्येक मनुष्य में, से, के लिये सहज स्थिति व गति है।

जीवन विद्या = जीवन जागृति = अस्तित्व में अनुभूति = प्रखर प्रज्ञा = प्रामाणिकता = जानना+मानना स्थिति = समाधान = सम्बन्धों को पहचानना+निर्वाह करना = गति।

प्रामाणिकता (जानने व मानने) में, से, के लिये सम्पूर्ण वस्तु :-

1. अस्तित्व
2. अस्तित्व में विकास
3. अस्तित्व में जीवन
4. अस्तित्व में जीवन-जागृति
5. अस्तित्व में रचनाएँ

प्रत्येक मनुष्य कर्म स्वतन्त्रता व कल्पनाशीलता जैसी मौलिक वैभव सहित स्थिति व गति में दृष्टव्य है। यही मौलिकता बहुआयामों में प्रवर्तन का स्रोत होना, सर्वेक्षण पूर्वक सम्पूर्ण देश काल में स्पष्ट होता है। बहुआयामी प्रवर्तन क्रम में कर्म व कल्पना की तृप्ति बिन्दु का तलाश समाहित है।

ऐसी तृप्ति बिन्दु का स्वरूप, प्रामाणिकता व समाधान का होना पाया जाता है। ये स्वयं जीवन जागृति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसलिए जीवन जागृति, अभ्यास का सार्वभौम उद्देश्य है।

“जीवन जागृति नियति क्रम व्यवस्था है” इसलिए उसकी पीड़ा निर्यात सहज है। यही नित्य संभावना है।

समाधान में, से, के लिए सम्पूर्ण गति के लिए सेवा :-

मानवीय तथा नैसर्गिक सम्बन्धों को पहचानना और मूल्यों का निर्वाह करना। अस्तित्व में अभ्यास को साक्षित करने के लिये सार्वभौम विकल्पात्मक स्थिति व गति की आवश्यकता मानव में, से, के लिए :-

1. समाधान, समृद्धि, अभय व सहअस्तित्व आवश्यकता है।
2. प्रामाणिकता व प्रमाण आवश्यकता है।
3. जीवन जागृति आवश्यकता है।
4. अनुभव बल, विचार शैली एवं जीने की कला में सामरस्यता आवश्यकता है।
5. ध्यान, ध्येय व ध्याता में सामरस्यात्मक स्थिति व गति आवश्यकता है।
6. दृष्टा, दृश्य व दर्शन में निर्भ्रमता आवश्यकता है।
7. अभ्यास, व्यवस्था व शिक्षा में सामरस्यता आवश्यकता है।
8. शिक्षा, व्यवस्था व आचरण में सामरस्यता आवश्यकता है।
9. अस्तित्व और अस्तित्व में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति का अंतर्सम्बन्धों के प्रति निर्भ्रम होना आवश्यकता है।

इस प्रकार साम्य रूप में अभ्यास की सार्वभौम आवश्यकताएँ स्पष्ट हैं। जिसके :-

1. अभ्यास का स्रोत मनुष्य में,
2. अध्ययन का स्रोत मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) में,
3. प्रबंधन का स्रोत श्री भजनाश्रम एवं दिव्य पथ संस्थान अमरकंटक में सहज सुलभ है।

विकल्प के रूप में जीवन विद्या एक संभावना

1. प्रत्येक मनुष्य जीवन तृप्ति (प्रामाणिकता) व समाधान की संभावना के रूप में विद्यमान है।
2. प्रत्येक मनुष्य विश्राम की संभावना में विद्यमान है।
3. प्रत्येक व्यक्ति सार्वभौम व्यवस्था की संभावना में विद्यमान है।
4. प्रत्येक व्यक्ति जीवन जागृति की संभावना में विद्यमान है।
5. प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता व स्वराज्य की संभावना में विद्यमान है।

विकल्पात्मक सम्पूर्ण संभावनाओं को आधार अस्तित्व एवं अस्तित्व में मानव ही है।

अस्तित्व ही सम्पूर्ण भाव स्थिति व गति होने के कारण मानव का अस्तित्व में अविभाज्य होना स्पष्ट है। साथ ही मानव सर्वाधिक विकसित प्रकृति है, इसकी मौलिकता, कर्म स्वतन्त्रता और कल्पनाशीलता के रूप में प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान होना स्पष्ट है। ऐसी मौलिक स्थिति व गति सहज रूप में अप्राप्ति की प्राप्ति, अज्ञात का ज्ञात सम्पन्न होने के क्रम में अभिहित है। फलतः :-

1. कौन अज्ञात का ज्ञाता और अज्ञान को प्राप्त करता है ?
2. मैं कौन हूँ ? क्या हूँ ? कैसा हूँ ? मैं क्या उद्गार बिन्दु कहाँ है।
3. जीव और जगत का प्रयोजन क्या है ? यह विकास हो तब इसका मूल रूप क्या है ? जीव और जगत किसी की इच्छा, संकल्प, प्रभाव, अनुग्रह प्रसाद हो तब वह क्या है ?

इस प्रकार अनेकानेक प्रश्न का मनः पटल पर उभरना मनुष्य की मौलिकता ही है। उक्त सभी प्रकार के और जितने भी प्रश्न उभर सकते हैं, उन सबका निराकरण और समाधान स्रोत की नित्य संभावना है। अस्तित्व में मानव और जीवन जागृति है।

अस्तु जीवन जागृति क्रम में ही प्रामाणिकता व समाधान वर्तमान होने के कारण अस्तित्व में जीवन विद्यामूलक और जीवन जागृति लक्षित अभ्यास का जीवन लक्षित गति सहज होना ही सम्पूर्ण आयाम, कोण, परिप्रेक्ष्य और दिशा में समाधान व उसकी निरंतरता है।

अस्तित्व में जीवन विद्या का स्रोत :-

1. अस्तित्व ही सम्पूर्ण भाव स्थिति व गति होने के कारण जीवन जागृति नित्य विद्यमान है। अस्तित्व ही जीवन जागृति में, से, के लिये सम्पूर्ण वस्तु है।
2. अस्तित्व ही सहअस्तित्व और सम्पूर्ण विकास है।
3. अस्तित्व ही विकास क्रम में जीवन है।
4. अस्तित्व ही दृश्य, दृष्टा व दर्शन है।
5. अस्तित्व ही ध्याता, ध्यान और ध्येय है।

इस प्रकार यह लक्ष्य सार्वभौम होने के कारण एवं जीवन जागृति सबका इष्ट होने के कारण यह नित्य स्रोत के रूप में विद्यमान है। क्योंकि :- “जो था नहीं वह होता नहीं”

अस्तित्व में जीवन विद्या की सहज साधना प्रक्रिया :-

1. मन में होने वाले आस्वादन को तुलन प्रतिष्ठा में,
2. व्रति में होने वाले तुलन को चित्रण प्रतिष्ठा में,

3. चित्त में होने वाले चिंतन को बोध प्रतिष्ठा में,
4. बुद्धि में होने वाले बोध को अनुभव प्रतिष्ठा में,
5. आत्मा में होने वाले अनुभव को अस्तित्व प्रतिष्ठा में,

तद्रूपता पर्यंत किया जाने वाला प्रयास ही अथवा अभ्यास की ध्यान प्रक्रिया है, इस प्रक्रिया का अपने आप में सार्वभौम होना और प्रत्येक मनुष्य में, से, के लिये स्वत्व रूप का होना स्पष्ट है। इसलिए स्वानुशासन, स्वतन्त्रता एवं जीवन जागृति के रूप में प्रामाणिकता व समाधान सर्व सुलभ होता है।

“जिसे एक व्यक्ति समझ सकता है, कर सकता है, और पा सकता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति समझ, कर, एवं पा सकता है।”

अस्तित्व में जीवन विद्या का प्रयोजन :-

1. जीवन जागृति में आनंद (प्रामाणिकता) आत्मा में,
2. जीवन जागृति में बोध (समाधान) बुद्धि में,
3. जीवन जागृति में चिंतन (न्याय) चित्त में,
4. जीवन जागृति में तुलन (नियम) वृत्ति में,
5. जीवन जागृति में आस्वादन (मूल्य) मन में,

अभिव्यक्त संप्रेषित व प्रकाशित होता है। इस प्रकार अभ्यास का सम्पूर्ण प्रयोजन व्यवहार सुलभ हो जाना है।

अस्तु ध्यान प्रक्रिया प्रत्येक के लिये प्रबुद्धता व मेधाविता क्रम में कितना आवश्यक, अनिवार्य व अपरिहार्य है, यह स्पष्ट हो चुका है। ध्यान का ध्येय अस्तित्व में अनुभूति ही है। ध्याता स्वयं जीवन है, दृष्टि जीवन जागृति क्रम में अभिव्यक्त, संप्रेषित होने वाला न्याय, धर्म(समाधान), सत्य(प्रामाणिकता) है, इसलिए सार्वभौम है। अस्तित्व में अनुभूति ही जीवन जागृति एवं उसकी निरन्तरता है। जीवन जागृति ही सम्पूर्ण आयाम, कोण, दिशा, व परिप्रेक्ष्य में समाधान उसकी निरन्तरता व परंपरा है। इसे प्रत्येक देश काल में मनुष्य वरता है। फलतः यह जीवन मूलक अभ्यास, सुखद, सुंदर एवं कल्याणमय होने की कामना से अर्पित है। अस्तित्व में अनुभवमूलक जीवन विद्या के प्रकाश में ही दृष्टा, दृश्य एवं दर्शन में सामरस्यता अनुभव बल, विचार शैली एवं जीने की कला में सामरस्यता व्यक्ति, परिवार, समाज (मानव इकाई) राष्ट्र और अंतर्राष्ट्र में सामरस्यता, व्यवसाय, व्यवहार, विचार व अनुभूति में सामरस्यता एवं सौन्दर्य बोध व व्यक्तित्व में सामरस्यता सहज सुलभ होगी।

नागराज शर्मा

प्रणेता- मध्यस्थ दर्शन (सह अस्तित्ववाद)

अमरकंटक

9. जीवन विद्या (क्र. ९)

3.3.93

1. सुख की चाह मानव में समान रूप से विद्यमान है। सभी अपने-अपने ढंग से इसके लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु प्रायः दुःख से छुटकारा मिलता नहीं है।
2. दुःख का मूल कारण भ्रम ही है। अतः निर्भ्रम होना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। स्वयं के प्रति निर्भ्रम होना, अस्तित्व के स्वरूप के प्रति निर्भ्रम होना, परस्पर संबंधों व मूल्यों के प्रति निर्भ्रम होना व तदनुरूप आचरण में प्रमाणित होना ही हमारा लक्ष्य है। सतत् जागृति ही इसका उपाय है। इससे मानव परंपरा में समाधान, समृद्धि, संतोष व आनंद की उपलब्धि संभव है।
3. अस्तित्व में चेतना एवं पदार्थ अविभाज्य रूप से विद्यमान हैं। अरूपात्मक, व्यापक सत्ता में संपृक्त रूपात्मक प्रकृति ही अस्तित्व सर्वस्व है। सत्ता स्थितिपूर्ण है तथा प्रकृति की अनन्त इकाइयाँ परस्पर स्थितिशील हैं। इनमें सहअस्तित्व अर्थात् परस्परता में पूरकता है।
4. प्रकृति में पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, एवं ज्ञानावस्था के क्रम में विकासक्रम दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति की मूल इकाई को परमाणु कहा जाता है। विकास का परम लक्ष्य जागृति ही है।
5. मनुष्य शरीर एवं जीवन का संयुक्त रूप है। शरीर नश्वर है जबकि जीवन अक्षय शक्ति, अक्षय बल सम्पन्न गठनपूर्ण परमाणु शाश्वत है।
6. जीवन के अक्षय शक्ति अक्षय बल को प्रत्येक मनुष्य स्वयं में चयन-आस्वादन, विश्लेषण-तुलन, चित्रण-चिंतन, संकल्प-बोध, प्रामाणिकता एवं अनुभव रूप में पहचान सकता है। ये सब अविभाज्य जीवन क्रियायें हैं।
7. मनुष्य में जीवन का फल अर्थात् व्यवहार जानने, मानने, पहचानने व निर्वाह करने के रूप में सदा कार्यरत है। जानने, मानने, पहचानने व निर्वाह करने के क्रम में तृप्त होने के अभ्यास से जीवन जागृति संपन्न होती है।
8. पूर्ण विकसित इकाई में आत्मानुवर्ती बुद्धि, चित्त, वृत्ति एवं मन की क्रियायें मध्यस्थीकरण प्रणाली से नियन्त्रित होती हैं जिसके फलस्वरूप ही सुख, शान्ति, संतोष एवं आनंद की प्रतिष्ठा होती है।
9. मनुष्य में व्यावहारिक मध्यस्थता न्याय से, वैचारिक मध्यस्थता धर्म से, अनुभव की मध्यस्थता ज्ञान से है। इसी से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बजाय समाधानात्मक भौतिकवाद, संघर्षात्मक जनवाद के बजाय व्यवहारात्मक जनवाद तथा रहस्यात्मक अध्यात्मवाद के बजाय अनुभवात्मक अध्यात्मवाद।

10. जीवन विद्या (क्र. १०)

योजना का तात्पर्य नियमपूर्ण कार्य (उत्पादन, विनिमय व सेवा) तथा न्यायपूर्ण व्यवहार (सम्बंधों की पहचान व उनमें निहित मूल्यों के निर्वाह) से है। जीवन विद्या योजना का अध्यवसायी स्वरूप अस्तित्व में अनुभवमूलक व्याख्या है तथा कार्यरूप अस्तित्व में अनुभव पर्यंत अध्ययन, अभ्यास, व चिंतन का निर्देशन है। जीवन क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से वर्तमान है। यह क्षमता आशा, विचार, इच्छा, संकल्प व अनुभूति जैसी अक्षय शक्तियों तथा मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि तथा आत्मा जैसे अक्षय बलों का अविभाज्य स्वरूप है। मनुष्य की जीवंतता इन्हीं बलों की स्थिति और शक्तियों की क्रियाशीलता से स्पष्ट होती है। मनुष्य जड़ और चैतन्य प्रकृति का संयुक्त स्वरूप है। प्रकृति चैतन्य पद में जीवन कहलाती है तथा शरीर रूप में जड़। चैतन्य का तात्पर्य संचेतना से, संचेतना का तात्पर्य संज्ञानीयता व संवेदनशीलता से, संज्ञानीयता व संवेदना का तात्पर्य जानने व मानने से तथा जानने व मानने का तात्पर्य पहचानने व निर्वाह करने योग्य क्षमता, पात्रता व योग्यता से है। जड़ का तात्पर्य भौतिक व रासायनिक रचनाएँ व विरचना समुच्चय से है। इस तरह अस्तित्व में जीवन दृष्टा ही पद में होना पाया जाता है। जानने एवं मानने की सम्पूर्ण वस्तु अस्तित्व, अस्तित्व में परमाणु और परमाणु का विकासक्रम, विकासक्रम में जीवन अथवा चैतन्य पद और जड़ अर्थात् भौतिक व रासायनिक रचनाएँ एवं विरचनाएँ एवं जीने के क्रम में जीवन जागृति है। इन सबका दृष्टा जीवन ही है। जीवन ही जागृति पूर्वक प्रामाणिकता की अभिव्यक्ति व सम्प्रेषणा तथा न्यायपूर्ण व्यवहार व नियमपूर्ण व्यवसाय व्यवस्था के प्रकाशन रूप में कर्ता पद में है। इस प्रकार जीवन ही दृष्टा व कर्ता स्वयं व्यवस्था है और अस्तित्व सम्पूर्ण के साथ भागीदारी है को स्पष्ट करना जीवन विद्या का प्रयोजन है।

जीवन विद्या में पारंगत मनुष्य ही मानवीयतापूर्ण मनुष्य है। ऐसे मनुष्य ही राष्ट्रीय चरित्र के सूत्र, लोकतंत्र के बल तथा मानवीय शिक्षा संस्कार व व्यवस्था के आधार हैं। जीवन विद्या की गति मानवीय संस्कृति, सभ्यता व नीति है। मानवीयतापूर्ण समाज का वैभव प्रत्येक मनुष्य का प्रमाणित, समाधानित, समृद्ध, अभय व सहअस्तित्वपूर्ण होना ही है। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य का जीवन विद्या में पारंगत होना एक अनिवार्यता है।

11. जीवन विद्या (क्र. ११)

1 जनवरी 93

प्रत्येक मनुष्य जीवन और मनुष्य का नाम लेता है किन्तु जीवन और मनुष्य क्या है? नहीं जानता है। सर्वेक्षण से यही पता चलता है कि मनुष्य स्वयं के अस्तित्व को मानता तो है किन्तु अस्तित्व क्या है? यही नहीं जानता, उतना ही नहीं वरन् स्वयं के स्वरूप को, महिमा को, वर्चस्व को, प्रयोजन को जानना तो चाहता है किन्तु अब तक के प्राप्त धर्म, राज्य और शिक्षा-उपदेश, अभ्यास-पद्धति द्वारा न ही जान पाया है और न ही प्रमाणित हो पाया है।

भौतिकवाद शरीर को ही मनुष्य का स्वरूप मानकर मनुष्य को अब तक विश्लेषित नहीं कर पाया है, कर पाया होता तो विश्लेषित मनुष्य सर्वमान्य हो जाता, प्रमाणित हो जाता।

आदर्शवाद, आत्मा को सत्य, जीव जगत को मिथ्या बताते हुए मनुष्य को विश्लेषित करने से चूक गया।

आशा के रूप में उपरोक्त दोनों विश्व दृष्टिकोणों ने मानव का शुभ चाहते हुए सत्य को उद्धाटित करने का दावा, संकल्प, इच्छा सहित अनेकानेक प्रयास किये जिसके फलन में वर्तमान स्पष्ट है। वर्तमान का फल-परिणाम ही मूल्यांकित होता है। वर्तमान में हम मानव भांति-भांति विधियों से समुदायों में बंटकर द्रोह-विद्रोह, शोषण, भय-प्रलोभन-आतंक, युद्ध और नाना वाद-विवादों के चंगुल में जकड़ कर रह गये हैं। इस जकड़न से हर मनुष्य मुक्त होना चाहता है। किन्तु दिशा विहीनता के कारण वह बारम्बार आवेश में आकर और घनी जकड़न में जकड़ जाता है।

"अब दिशा मिल गई है" अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिन्तन ज्ञान इसमें मनुष्य परिभाषित और व्याख्यायित है फलतः सर्वांगीण परम शुभ तक का मार्ग प्रशस्त है। इसे हृदयंगम करने व सार्थक होने के लिये "जीवन विद्या" उद्धाटित हो चुकी है, जिससे प्रत्येक मनुष्य स्वयं को जानने पहचानने निर्वहन करने एवं श्रेष्ठता के प्रति सम्मान करने की अर्हता से सम्पन्न होता है।

1. जीवन विद्या स्वयं को समझने की क्रिया विधि है - मनुष्य, जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में होना अध्ययनगम्य है। शरीर का अध्ययन भौतिक व रासायनिक पद्धति से सम्भव हो चुका है, जीवन प्रत्येक मनुष्य में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होता है इसे बड़े, बूढ़े, बच्चे जवान सभी में समान रूप में देखने को मिलता है, साथ ही कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता भी प्रत्येक मनुष्य में स्पष्ट है। अभिव्यक्ति के आधार पर परस्पर मनुष्य पहचानता है।
2. मनुष्य की परिभाषा - मनाकार को साकार करने वाला एवं मनःस्वस्थता का आशावादी मानव है। मनाकार को साकार करने में खेती, किसान, गोपालन, वृक्षारोपण, ग्रह निर्माण, प्रौद्योगिकीय उपक्रमों से सामान्य आकांक्षा अर्थात् आहार, आवास, अलंकार सम्बन्धी वस्तुओं और उपकरणों का उत्पादन है, महात्वाकांक्षी वस्तुओं यथा दूर-श्रवण, दूर-गमन, दूर-दर्शन सम्बन्धी वस्तुएं पहचानने में आ चुकी हैं जिनकी उपयोगिता, सदुपयोगिता, प्रयोजनीयताएं मनःस्वस्थता के संदर्भ में प्रमाणित हो जाती हैं। मनःस्वस्थताएं समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व के रूप में स्वराज्य, स्वतंत्रता अथवा सार्वभौम व्यवस्था/अखण्ड समाज में भागीदारी के क्रम में प्रमाणित होती हैं।

जीवन विद्या मनुष्य को, जीवन क्रियाकलाओं को बोधगम्य कराती है जैसे कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता जीवन का मौलिक गुण है इसके आधार पर व्यवस्था, अव्यवस्था, न्यायान्याय, समाधान, सभ्यता, समृद्धि-असमृद्धि, अभय-भय, देश काल दिशा गति और स्थिति आदि पक्षों की गणना की जाती है यह प्रक्रिया प्रत्येक मनुष्य में प्रकारान्तर से प्रमाणित है।

जीवन विद्या, जीवन क्रिया को क्रम से जानने मानने, पहचानने और निर्वाह करने के प्रमाणों को प्रमाणित करती है जैसे सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति के रूप में अस्तित्व का नित्य वर्तमान होने का अध्ययन मानव को अस्तित्व में अविभाज्य रूप में होने के प्रमाण को अध्ययन सुलभ करता है अस्तित्व स्वयं में सहअस्तित्व के रूप में बोध गम्य है, प्रत्येक इकाई के सभी ओर से सीमित रहने के आधार पर सत्ता में घिरे रहना प्रमाणित होता है।

जीवन विद्या (ज्ञान) अस्तित्व दर्शन को प्रमाणित करता है। सत्ता व्यापक प्रकृति अनन्त होने के कारण सत्ता में प्रकृति का वर्तमान और सम्पृक्त होना प्रमाणित है, प्रकृति ही अस्तित्व में विकासपूर्वक विभिन्न अवस्थाओं सहित जड़-चैतन्य प्रकृति के संयुक्त रूप में प्रमाणित होता है। सत्ता ही ईश्वर, परमात्मा, ज्ञान, निरपेक्ष शक्ति के नाम से इंगित है।

जीवन विद्या अस्तित्व में परमाणु में ही विकास होना प्रमाणित करती है, प्रत्येक अणु के मूल में अनेक परमाणुओं को पाया जाता है ऐसे परमाणु अनेक प्रजातियों के रूप में, अंशों के संख्या-भेद से पहचाने जाते हैं। ऐसे सभी प्रजातियों के परमाणुओं को एक कतार में देखने से स्पष्ट होता है कि कुछ अंशों की सीमा तक गठित परमाणुओं में और अंशों के समाने की संभावना शेष रहती है उसके बाद और जितने प्रकार के परमाणु होते हैं उनको देखने पर पता चलता है कि उन्हें अजीर्ण हो गया है क्योंकि उनमें से कुछ टूट कर अलग होना चाह रहे हैं; इस प्रकार अजीर्ण और भूखे परमाणुओं के बीच एक ऐसे तृप्त परमाणु की कल्पना होती है।

वर्णित सभी प्रकार के परमाणु अपनी अतृप्ति को अणु और अणु रचित रचना-विरचना सहित भौतिक रासायनिक वैभव प्रकाशित करते हैं। यही जड़ प्रकृति है जबकि अस्तित्व में जड़ और चैतन्य प्रकृति देखने में आती ही है। जड़ प्रकृति वह है जिसका समस्त क्रियाकलाप उसकी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई तक ही सीमित होता है। जबकि चैतन्य प्रकृति अपनी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई से अधिक स्थान तक क्रियाशील होती है उसमें आशा, विचार, इच्छा संकल्प और अनुभव जैसी अक्षय शक्तियों का प्रकाशन होता है - इसका साक्षी स्वयं मनुष्य ही है। इस प्रकार मनुष्य ही जड़-चैतन्य प्रकृति का अध्ययन करता है तथा अवधारणाओं सहित अनुभव करता है। इसी तथ्यवश मनुष्य ही अस्तित्व में दृष्टा पद में होना प्रमाणित होता है।

मनुष्य शरीर रासायनिक-भौतिक रचना के रूप में स्पष्ट हो चुका है। मनुष्य ही आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव को प्रकाशित सम्प्रेषित और अभिव्यक्त करता है यही प्रमाण जीवन में अक्षय शक्तियों को स्पष्ट करता है और बल और शक्ति का अविभाज्य वर्तमान होने के सिद्धान्त के अनुसार अक्षय शक्तियां गति में होने के मूल में अक्षय बलों का परीक्षण करने पर पता चलता है कि वे मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा के रूप में नित्य वर्तमान हैं। यही जीवन की अपने प्रकाश में स्वयं को पहचानने की विधि, प्रक्रिया सहज भाव में स्पष्ट हो जाती है जैसा मन का चयन

और आस्वादन कार्य, वृत्ति का विश्लेषण और तुलन, चित्त का चित्रण और चिंतन, बुद्धि का बोध और संकल्प तथा आत्मा का अनुभव और प्रामाणिकता में आने की विधि परीक्षण पूर्वक स्पष्ट होती है।

यही क्रम से एक दूसरे की परीक्षण और अनुभव विधि अथवा अविभूत होने की विधि से मनुष्य में स्वनिरीक्षण-परीक्षण प्रक्रिया के आधार पर प्रत्येक मनुष्य में प्रमाणित होती है। जैसा चयन और आस्वादन क्रियाकलापों को विश्लेषण और तुलन के प्रकाश में निरीक्षण-परीक्षण करने पर मन वृत्ति में अविभूत होता हुआ समझ में आता है। विश्लेषण और तुलन क्रियाकलापों को चित्रण और चिंतन के प्रकाश में निरीक्षण-परीक्षण करने पर वृत्ति चित्त में अविभूत होती है। संकल्प प्रकाश में परीक्षण-निरीक्षण करने पर चित्त बुद्धि में अनुभूत होता हुआ दिखाई देता है। दिखाई देने का तात्पर्य समझने से और समझने का तात्पर्य जानने, मानने से है। बोध और संकल्प क्रियाकलापों को प्रामाणिकता और अनुभव के प्रकाश में बुद्धि आत्मा में अनुभूत हुई समझ में आती है। यही जीवन जागृतिपूर्वक दृष्टा होने का प्रमाण है। यही अक्षय शक्ति, अक्षय बल की प्रामाणिकता है।

जीवन विद्या, स्वयं का स्वयं में, स्वयं से स्वयं के लिये अध्ययन (अवधारणा) और अनुभव के साथ साथ प्रत्येक मनुष्य जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में प्रकाशित होने के सूत्र को सहअस्तित्व के रूप में उद्घाटित करता है। फलस्वरूप संबंधों की पहचान सहज रूप में समझ में आती है और पहचान और निर्वाह करने की उपयोगिता, सदुपयोगिता, और प्रयोजनीयता को क्रम से अखण्ड समाज में भागीदारी, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी, स्वानुशासन के रूप में प्रमाणित होती पाई जाती है। मानव परम्परा में इन्हीं उपलब्धियों के साथ स्वस्थ परम्परा के रूप में वैभूत होना सहज, वांछित और आवश्यक है। मानवत्व मानव का स्वत्व होने के कारण स्वतंत्रता और अधिकार अविभाज्य रहता है। यद्यपि अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने "त्व" सहित व्यवस्था के रूप में है जैसा लोहा, लोहत्व के साथ, आम आमत्व के साथ, नीम नीमत्व के साथ, गाय गायत्व के साथ एवं मानव मानवत्व के साथ स्वयं व्यवस्था में और समग्र व्यवस्था में भागीदारी होना पाया जाता है।

जीवन विद्या के प्रकाश में मानवीयता, अतिमानवीयता और अमानवीयता स्पष्ट होती है, अस्तित्व में प्रत्येक एक में रूप, गुण, स्वभाव, और धर्म अविभाज्य रूप में वर्तमान होना पाया जाता है। मानव मानवत्व सहित ही व्यवस्था के रूप में प्रकाशित होता है। अमानवीयतापूर्वक वह अव्यवस्था की पीड़ा से पीड़ित पाया जाता है। अतिमानवीयतापूर्वक मानव परम्परा में, से, के लिये जागृतिपूर्ण जीवन तृप्ति को प्रमाणित करता हुआ स्पष्ट होता है। अतिमानवीयतापूर्वक मानव परम्परा में से, के, लिये जागृतिपूर्ण जीवन तृप्ति को प्रमाणित करता हुआ स्पष्ट होता है। अमानवीयता, मानवीयता, अति मानवीयता में स्वभाव प्रवर्तन और दृष्टियों की क्रियाशीलता के आधार पर व्याख्यायित होना ही प्रसिद्ध है। इसी क्रम में पाँच कोटि के मानव स्पष्ट हो जाते हैं जो पशु मानव, राक्षस मानव, मानव, देव मानव, और दिव्य मानव के रूप में अध्ययन गम्य है।

जीवन विद्या के प्रकाश में प्रत्येक मनुष्य मानवत्व सहित स्वयं व्यवस्था और सार्वभौम व्यवस्था में भागीदार होने का अध्ययन सुलभ होता है इसलिए प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को पहचानने, श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने, अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था में भागीदार होना चाहता है इसलिये जीवन विद्या पारंगत होने के लिये आह्वान है।

12. जीवन विद्या (क्र. १२)

Date – 13 June 2003, Friday

*नागराज जी से सुनें हुए का श्रोता द्वारा प्रतिलेखन

उद्देश्य – विद्या को भली प्रकार से समझना।

1 – विद्या को समझने की आवश्यकता कैसे महसूस हुई: –

गोविन्दपुर में जो सीखा-समझा था वो अच्छा लगा और अब अपनी जिम्मेदारी व अपनी इच्छा से विद्या को समझना चाहती हूँ। इसी आधार पर अब अपना जीवन ढालना चाहती हूँ, जीना चाहती हूँ।

परिचय

- मैं अपने को होने के रूप में पहचानता हूँ।
- सभी मानव को होने के रूप में पहचानता हूँ।
- सभी जीव संसार, वनस्पति संसार, पदार्थ संसार सबको होने के अर्थ में पहचानता हूँ।
- मिट्टी-पत्थर से लेकर जीवों तक ये सब कैसे हैं, क्यों हैं, यह मुझे पूरा पता है। इसी के साथ मैं अपने को सोचता हूँ कि मैं क्यों हूँ? कैसा हूँ? हमारा क्या प्रयोजन है?

इनको समझने के लिए यहाँ प्रस्तुत हूँ।

होने की स्वीकृति सबमें है। इसी प्रकार मुझ में भी है। होने के रूप में मेरी गतिविधियाँ खाने/कपड़े पहनने/किसी घर में निवास करने में/ इनमें मेरा होना पता लगता है। इसी के साथ मैं कैसी हूँ यह पता नहीं लगता है।

हमारा सोच विचार शरीर से कहीं ज्यादा दिखता है। मनुष्य के साथ मेरा होना। किसी के साथ पहचान होना, किसी के साथ नहीं होना। पहचान होने के बाद भी कुछ के साथ निर्वाह होना व कुछ के साथ नहीं होना मैं महसूस करती हूँ।

सबको पहचानने की विधि :-

होने के साथ सोच-विचार सबके साथ वर्तमान है। इसीलिए ये सोच विचार कहाँ से आता है (आंख नाक कान में तो नहीं होते, सिर पैर में भी नहीं होते हैं) इसको पूरा समझना हमारी एक आवश्यकता बनी। यही जीवन व जीवन महिमा को समझने की आवश्यकता बनी।

2 – जीवन – विद्या

सभी मनुष्य अपने को जीवित रहना स्वीकारते हैं। जीवन व शरीर के संयुक्त रूप में सभी मानव जीवन्त बना रहता है।

जीवन अपने स्वरूप में जीने की आशा रखने वाला (हर व्यक्ति जीना चाहता है), सोच-विचारने वाला, अच्छा-बुरा मानता ही है। ये सब जीवन में होने वाली क्रियाएं हैं।

जीवन में अर्थात् मनुष्य में अच्छा-बुरा के लिए प्रिय हित लाभ के आधार पर स्वीकारना होता है।

प्रिय – संवेदनाओं के अनुकूल होने से अच्छा मानते हैं। इसके विपरीत होने से बुरा मानते हैं (या अप्रिय)

हित – शरीर स्वस्थता के लिए, जो अनुकूल है उसे हित मानते हैं। इसमें व्यतिरेक को अहित मानते हैं।

लाभ – मानव परंपरा में इसी को लाभ मानते हैं कि कम देकर ज्यादा मिलना।

इतनी विधाओं में हर मनुष्य जीता है। इस प्रकार किसी को ज्यादा मिल गया किसी को कम मिला ये कहाँ तक उचित है – नहीं है।

संवेदनाओं के अनुकूल होने मात्र से संबंधों का निर्वाह कैसे होगा ?

ये परम्परा में बनी हुई है ये सही क्यों नहीं है –

मानव अपने स्वरूप को नहीं समझा। समझने पर क्या स्वरूप होता है –

मानव अपनी परिभाषा के रूप में मनाकार को साकार करने वाला व मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने वाला है। इसमें से मनाकार को साकार करने की परम्परा स्पष्ट हो चुकी है। मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने का पक्ष सफल नहीं हुआ। क्या परम्परा में कोई मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया ? – नहीं किया।

मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने की आवश्यकता है या नहीं – है।

3 – मानव इस धरती पर जब से निवास कर रहा है।

अपनी परम्परा बना रहा है या इस धरती पर है। परम्परा में मनः स्वस्थता को प्रमाणित करने का क्या प्रयास किया ?

अभी तक दो प्रकार की सोच विचार हमारे सम्मुख है— 1. ईश्वरवाद 2. भौतिकवाद

ईश्वरवाद:— ईश्वरवाद अपने में रहस्यमूलक व रहस्यगामी हो गया। जैसे कि ईश्वर है यह बताया गया लेकिन प्रमाणित होना नहीं बन पाया। ईश्वरवाद के अनुसार स्वान्तःसुख और मोक्ष के रूप में बताया गया। यही स्वान्तःसुख की गम्यस्थली रही। यह भी रहस्य हो गया और प्रमाणित नहीं हो पाया। मान्यताओं के आधार पर रुढ़ियां अभी भी बनी हुई हैं। इसमें ऐसे भी समझा जा सकता कि मनःस्वस्थता के लिए स्वान्तःसुख को मंजिल माना।

भौतिकवाद: भौतिकवाद के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के लिए सुविधा ही सुख है, ऐसा मान लिया। जबकि ज्ञानेन्द्रियों में अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, गंध में सुख भासता है, सुख होता नहीं है। इसीलिए पुनः विचार की आवश्यकता है।

दूसरा ईश्वरवाद के अनुसार किताब प्रमाण बताया जाता है और भौतिकवाद में यंत्रों को प्रमाण मान लिया। इसीलिए मानव प्रमाण का आधार ही नहीं हुआ।

प्रश्न: मानव जब प्रमाण नहीं है तो जिया क्या चीज ?

जीना ही स्वयं में प्रमाण है। जीने में ही मनःस्वस्थता का प्रमाण होता है। अभी तक हम मानव मनाकार को साकार करने में सफल हुए हैं। इसीलिए मनःस्वस्थता के लिए ज्ञान होना आवश्यक है।

मनाकार को साकार करने तक मानव जीवन क्रियाओं में से साढ़े चार क्रियाओं को प्रयोग किया है और साढ़े पाँच क्रियायें प्रयोग में नहीं आया। ये क्रियायें प्रयोग में प्रमाणित होना ही जागृति का मतलब है अर्थात् मनःस्वस्थता प्रमाणित होने का रास्ता है मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने के लिए और साढ़े पाँच क्रियाओं को प्रमाणित करना आवश्यक हो गया।

जीवन में दस क्रियायें प्रमाणित होती हैं। इसे प्रमाणित करना ही जीवन जागृति है।

जीवन में दस क्रियाओं का स्वरूप— 1-चयन, 2- आस्वादन, 3- विश्लेषण, 4- तुलन, 5- चित्रण, 6- चिंतन, 7- संकल्प, 8- बोध, 9- प्रमाण, 10- अनुभव

ये दस क्रियायें प्रमाणित होना ही जागृति व मनःस्वस्थता होने का प्रमाण है। इसमें से साढ़े चार क्रियायें कैसे प्रमाणित हुआ लेकिन अन्य क्यों नहीं हुई ?

मानव शरीर द्वारा मानव ने कल्पनाशीलता व कर्मस्वतन्त्रता का प्रयोग किया है। यह कैसे कर पाये ? क्यों किये ? ये प्रश्न होता है।

इस प्रश्न के उत्तर में मनुष्य शरीर सर्वोच्च विकसित शरीर है। जीवन अपनी जागृति को प्रमाणित करना चाहता ही है सुखी होने के लिए। इसके लिए आधार शिक्षा संस्कार ही है। अभी तक की जो शिक्षा परम्परा में पहचानी गयी है उसमें जीवन के अध्ययन का कहीं अता-पता नहीं है। इसी के साथ- मनुष्य के साथ सभी प्रकार के जीव जीते आये हैं जिसको देखने का मौका सभी मनुष्यों के सम्मुख रहा है इसी आधार पर अर्थात् जीवों के सम्मुख जीने के आधार पर कल्पनाशीलता, कर्म स्वतन्त्रता को प्रयोग किया।

जीवों में भी संवेदनायें क्रियारत, क्रियाशील रहना देखा जा रहा है, मानव में भी क्रियाशील, प्रभावशील रहना देखा जा रहा है। इसके साथ मानव में यही विशेषता आयी कि मनाकार को साकार करने में सफल हुये। ऐसा मनाकार साकार करते हुए, करने व जीने के लिए जीवन की साढ़े चार क्रियायें पर्याप्त रहीं।

वह साढ़े चार क्रियायें चयन-आस्वादन, विश्लेषण-आधा तुलन (वृत्ति में तुलन-प्रिय हित लाभ व न्याय धर्म सत्य के रूप में होता है। इसका प्रमाण हर मानव न्याय चाह रहा है) चित्रण क्रियायें संपादित होती हैं।

इस प्रकार चित्रण, आधा तुलन, विश्लेषण, चयन, आस्वादन साढ़े चार क्रियायें हुई। इतने के साथ जीवों के सदृश संवेदनाओं का प्रयोग और मनाकार को साकार होने की क्रियाकलाप वर्तमान में प्रमाणित हुई | अभी मानव परम्परा में ये दिखता है।

4 –साढ़े पांच क्रियाओं का स्वरूप प्रमाणित करने की सम्भावना

1. तुलन क्रिया में से प्रिय-हित-लाभ सम्बन्धी तुलन को हर व्यक्ति करता ही आया। न्याय-धर्म-सत्य का तुलन कल्पनाओं में प्रमाणित नहीं हो पाया।

न्याय को हम इस प्रकार से प्रमाणित कर सकते हैं कि संबंधों को पहचानने के तरीके से। हर आदमी संबंधों का संबोधन, उच्चारण करता ही है हर देश-भाषा में। उच्चारण में संबोधन के साथ जो संबंध की स्वीकृति रहती है, उन स्वीकृतियों को निर्वाह करने पर विश्वास होना स्वाभाविक है इस प्रकार संबंधों का निर्वाह ही विश्वास का आधार है।

इसके बाद यही प्रश्न हो सकता है कि संबंधों को निर्वाह करना है या नहीं ? सामान्यतः सर्वाधिक मनुष्यों में स्वीकारने निर्वाह करने की ही ध्वनि निकलती है। निर्वाह करने की स्थिति में विश्वास अपने आप में निर्वाह हुआ रहता है। इसका मूल्यांकन होना स्वाभाविक है। परस्परता में तृप्ति और साथ-साथ जीने की आवश्यकता स्पष्ट होती है। इस प्रकार संबंधों को पहचानना, मूल्यों का निर्वाह करना, मूल्यांकन करना, परस्पर तृप्ति, यही न्याय का स्वरूप है।

धर्म का स्वरूप ऐसे प्रमाणित कर सकते हैं कि हर मानव, हर नर-नारी समाधान सम्पन्न होना चाहते हैं। ऐसा क्यों चाहते हैं इसे शोध किया गया। पता चला कि सुखी होने के लिए समाधान ही एक मात्र रास्ता है। मानव धर्म सुख है। समाधान का फलन सुख होना पाया जाता है। इस तरीके से समाधान = सुख, व समस्या = दुख।

सुखी होना ही मानव धर्म है। धर्म सफलता के लिए समाधान सम्पन्न होना आवश्यक है।

समाधान कैसे मिले ये प्रश्न होता है। इसके उत्तर में मध्यस्थ दर्शन – सहअस्तित्ववाद के आधार पर प्रस्तावित ज्ञान विवेक विज्ञान का संयुक्त रूप में निष्कर्ष निर्णय स्पष्ट होता है, ज्ञात होता है, व्यवहार में प्रमाणित होता है। यही सर्वतोमुखी समाधान का स्रोत है। इस प्रकार ज्ञान, विवेक, विज्ञान, सम्पन्न होना हर मानव की आवश्यकता है।

सत्य अपने स्वरूप में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व में अनुभव ही है। अनुभव ही परम प्रमाण है। इसका धारक वाहक मानव है। दूसरी विधि से मानव का प्रमाण अनुभव ही है। इसीलिए सहअस्तित्व बोध होना अनुभव होना आवश्यक है।

सहअस्तित्व बोध अध्ययन विधि से सफल होता है।

सहअस्तित्व में अनुभव विधि:- सहअस्तित्व सहज अस्तित्व ज्ञान होने के उपरान्त अस्तित्व में अनुभव होने की स्थिति बनती है। अभी जीवन की ही समझ जीवन में होने की आवश्यकता पर यहां तक ध्यान गया कि 10 क्रियायें प्रमाणित होनी हैं।

5 –दस क्रियायें प्रमाणित होने की विधि: –

अनुभव, प्रामाणिकता, अनुभव बोध, प्रमाण को प्रमाणित करने का संकल्प, प्रमाणित करने के लिए चिन्तन, चित्रण और न्याय धर्म सत्य सहज तुलन, उसका विश्लेषण, मूल्यों का आस्वादन, संबंधों का चयन रूप में प्रमाणित होना पाया जाता है।

मानव संबंधों में न्याय के रूप में, प्राकृतिक संबंधों में नियम के रूप में फलीभूत होता है। इस क्रम से प्रमाणित होना तभी सुलभ है जब सहअस्तित्व में जीवन अनुभव करना होता है। इसके लिए सहअस्तित्व बोध होना एक आवश्यकता है। आगे इसका विषद अध्ययन होगा।

सहअस्तित्व समझ में आने के बाद ही जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण सार्थक हो पाता है। यहां ये मान्यता आवश्यक है कि सहअस्तित्व ज्ञान अनुभवमूलक विधि से सम्पन्न होने के उपरान्त ही जीवन की सार्थकता समझ में आती है।

सार्थकता का पहला मुद्दा समझदारी, दूसरा मुद्दा ईमानदारी, तीसरा जिम्मेदारी और चौथा मुद्दा भागीदारी है।

- भागीदारी का स्वरूप – मानव के साथ व्यवस्था को प्रमाणित करना व समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना।
- जिम्मेदारी का स्वरूप – मानव संबंध, मानवेतर प्रकृति के संबंध को पहचानना, निर्वाह करना, मूल्यांकन करना व तृप्ति पाना। इसे समझदार मानव ही पूरा कर पाता है।

अभी तक इस स्थली में ये भी एक प्रश्न होना स्वभाविक है कि क्या अभी हम समझदार नहीं हैं। क्या हम समझदारी का कोई सूत्र नहीं पाये हैं।

उक्त मुद्दे पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। परम्परागत तरीके से प्राप्त दोनों प्रकार की विचारधाराएं अपने में समृद्ध हुए और लोगों ने इसे अपनाया। पूरी निष्ठा से अपनाने के उपरान्त ये समझ आया कि ईश्वरवाद स्वर्ग व मोक्ष का लक्ष्य बनाने, उसके लिए कार्यक्रम के रूप में भक्ति-विरक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया है। ये दोनों रहस्यमयी होने के कारण प्रमाण परंपरा नहीं हो पायी।

मोक्ष का प्रमाण व स्वर्ग का प्रमाण मानव परंपरा में प्रमाणित नहीं हुआ। किताबों के अनुसार शब्दों-वचनों के अनुसार ये दोनों मिलने का आश्वासन इसमें योग्य प्रक्रियायें बतायी गई हैं। इसमें से एक विधि तप करने की विधि, दूसरा सच्ची भक्ति करने की बात कही है।

भौतिकवादी विधि से स्वर्ग-नरक व भक्ति-विरक्ति से कोई लेना-देना नहीं रहा। संघर्षपूर्वक संग्रह सुविधा प्राप्त करने की प्रवृत्ति प्रेरणा देती है। इस प्रकार दोनों विधि से मानव को, मानव के साथ जीने, मानव को पहचानने का कोई रास्ता नहीं दिखता। इसी प्रकार के क्रम चलते व्यक्तिवाद-परिवारवाद और समुदायवाद तक लोगों ने सोचा। 21 वीं सदी तक सभी समुदाय असुरक्षा के चक्कर में आ गये। प्रदूषण के आधार पर प्राकृतिक प्रकोप बढ़ गये। इन दोनों प्रकार के संकटों से उद्धार के लिए मध्यस्थ दर्शन-सहअस्तित्ववाद प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत हुई है।

मानव समझदार होने के उपरान्त, मानवीयतापूर्वक समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है। इस वर्तमान में मानव का अध्ययन पंच कोटि में होता है।

1. अमानव दो कोटि में होते हैं – पशु मानव व राक्षस मानव
2. मानव एक कोटि में होते हैं – मानव
3. अतिमानव दो कोटि में होते हैं – अतिमानव कोटि में देव मानव व दिव्य मानव

इनका निश्चयीकरण उनके आचरणों में पाये जाने वाले दृष्टि, प्रवृत्ति व स्वभाव के आधार पर निश्चित होता है।

अमानव कोटि:-

- स्वभाव – दीनता हीनता क्रूरता का होना पाया जाता है।
- प्रवृत्ति – चार विषयों में होना पाया जाता है। (आहार, निद्रा, भय, मैथुन)
- दृष्टि – प्रिय, हित, लाभ

- पशुमानव दीनता प्रधान व राक्षस मानव क्रूरता प्रधान होते हैं।

मानव :-

- स्वभाव धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा करुणा के पक्ष में होता है।
- प्रवृत्तियाँ- पुत्तेष्णा (धनबल), वित्तेष्णा (जनबल), लोकेष्णा (यशबल) कामना के रूप में देखा जाता है।
- दृष्टियाँ - न्याय प्रधान धर्म व सत्य दृष्टि के रूप में होना पाया जाता है।
- जनबल कामना - संतान के रूप में, संतान मानव परंपरा के रूप में सार्थक होना।
- धनबल कामना - परिवार में उपयोग के आधार पर समाज में सदुपयोग के आधार पर व्यवस्था में नियोजन, प्रयोजनशीलता के आधार पर सार्थक होना।
- यश बल कामना- दूर-दूर तक पहचान के आधार पर व्यवस्था में भागीदारी होने के आधार पर सार्थक होता है।

देवमानव :-

- स्वभाव - दया प्रधान कृपा करुणा और धीरता वीरता उदारता के रूप में होना पाया जाता है।
- दृष्टियाँ - धर्म प्रधान सत्य व न्याय के रूप में होने पाया जाता है।
- प्रवृत्ति - लोकेष्णा के रूप में होता है।

दिव्यमानव :-

- स्वभाव - करुणा प्रधान धीरता वीरता उदारता दया कृपा के रूप में होता है।
- दृष्टियाँ - सत्य दृष्टि या सत्य प्रधान धर्म व न्याय दृष्टि होती है।
- प्रवृत्ति - केवल परम सत्य रूपी सत्य होती है। परम सत्य रूपी सहअस्तित्व को प्रमाणित करना ही होती है।
- न्याय - संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन परस्पर तृप्ति के रूप में वर्तमान
- धर्म - सुख, सुखी होने के लिए समाधान, समाधान के लिए समझदारी
- सत्य - सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व, सत्ता में संयुक्त जड़-चैतन्य प्रकृति
- धीरता - स्वयं न्याय के प्रति दृढ़ता को प्रमाणित किये रहना
- वीरता - दूसरों को न्याय दिलाने में तन मन धन का उपयोग करने वाला
- उदारता - तन मन धन रूपी अर्थ का सदुपयोग सुरक्षा करना

- दया – पात्रता के अनुरूप वस्तु को सुलभ करने वाले प्रवृत्ति व प्रमाण
- कृपा – वस्तु के अनुरूप पात्रता को प्रमाणित करने वाला प्रवृत्ति व प्रमाण
- करुणा – पात्रता व वस्तु के अनुरूप सुलभ करने वाली प्रवृत्ति व प्रमाण

प्रवृत्ति :-

- मानव में पुत्तेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा
- देव मानव में लोकेषणा
- दिव्य मानव में सहअस्तित्व को प्रमाणित करना ही प्रवृत्ति के रूप में होना पाया जाता है।

6 – मानवीय आचरण: मानव में मानवत्व प्रमाणित होता है

मानव में मानवत्व मानवीयतापूर्ण आचरण के रूप में प्रमाणित होता है। त्व का अर्थ ही है आचरण। दूसरी विधि से त्व के रूप में ही आचरण सहित हर होने की वस्तु को पहचाना जाता है। इस प्रकार स्व व त्व अविभाज्य रूप में वर्तमान है। स्व का मतलब होना, त्व का मतलब है आचरण होना।

इस प्रकार स्व, त्व अविभाज्य रूप में वर्तमान है। इसी विधि से मानव भी स्व व त्व के साथ अविभाज्य वर्तमान होना स्वभाविक है। भ्रमवश अर्थात् जीवों के सदृश जीने की अपेक्षा के आधार पर पशु मानव राक्षस मानव के रूप में गण्य हुआ। ये स्वयं अर्थात् पशु व राक्षस मानव को भी अधिकांशतः स्वीकृत नहीं है। हर पशु मानव व राक्षस मानव भी सुखी होना चाहता है। सुख के लिए मनाकार को साकार करना के उपरान्त भी सुखी होने का प्रमाण परम्परा के रूप में अभी नहीं हुआ इसीलिए मनः स्वस्थता को अपनाना आवश्यक हो गया।

इसी क्रम में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व का अध्ययन संभव हुआ। फलन के रूप में जीवन का अध्ययन, मानवीयतापूर्ण आचरण स्पष्ट होता है।

मानवीयतापूर्ण आचरण :-

मूल्य चरित्र नैतिकता के संयुक्त मूल्य रूप में मानवीयतापूर्ण आचरण को पहचाना जाता है। मूल्यों को प्रमाणित करने के लिए संबंधों का होना आवश्यक है। संबंध के लिए भ्रमित अवस्था से भी संबोधन के रूप में स्वीकार चुके हैं। संबंध प्रधानतः सात रूप में संबोधन करने में आता है। हर भाषा देश परिवार में यह स्पष्ट है।

1. माता पिता,
2. भाई-बहन,

3. गुरु-शिष्य,
4. पुत्र-पुत्री,
5. साथी- सहयोगी,
6. मित्र-मित्र,
7. पति पत्नी

इसमें से पति-पत्नी संबंध को छोड़कर सभी सम्बन्ध मित्रवत होते हैं। इस ढंग से बहुत विस्तार तक हम संबंधों को संबोधित करने में समर्थ हो चुके हैं। इन संबंधों से होने वाले प्रयोजन समझना आवश्यक है। यह मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने के क्रम में स्पष्ट होना पाया जाता है।

सभी संबंध व्यवस्था में प्रमाणित होने, समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने के अर्थ में उपयोगी पूरक सार्थक होना पाया जाता है। इसी के साथ माता-पिता पुत्र-पुत्री के साथ मानवीयतापूर्ण विधि से जीने की अपेक्षा रखता है। मानवीयता की अपेक्षा सभी समुदायों में बनी हुई है।

मानवीयतापूर्ण आचरण ही मानवीयता का आधार है। मानवीयता का विस्तार ही संबंधों में प्रमाणित होना है। मानवीयतापूर्ण आचरणपूर्वक सभी संबंधों में विश्वास निर्वाह होता है। संबंधों को पहचानना, मूल्यों को निर्वाह करना, सबसे पहले विश्वास मूल्य को निर्वाह करना, मूल्यांकन करना व परस्पर तृप्ति पाना।

मानवीयतापूर्ण आचरण का दूसरा आयाम चरित्र, स्वधन, स्वनारी, स्वपुरुष व दयापूर्ण कार्य व्यवहार करना।

तीसरा आयाम नैतिकता। हर व्यक्ति में कम से कम परिवार में पाये जाने वाले तन मन धन रूपी अर्थ का सदुपयोग सुरक्षा करना। सदुपयोग करने में परिवार में नियोजन, उपयोग, अखण्ड समाज के अर्थ में नियोजन, उपयोग सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में नियोजन प्रयोजनशील होना पाया जाता है। इस प्रकार हर मानव-परिवार सार्वभौम व्यवस्था के रूप में जीना ही सार्थकता है।

मानवीयता पूर्ण आचरण ही अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था का मूल रूप है। समझदार मानव परिवार में ये मानवीयतापूर्ण आचरण परस्परता में प्रमाणित होता है। आचरण ही अखण्ड समाज का सूत्र है। संबंधों का निर्वाह होना, संपूर्ण संबंधों में विश्वास होना समाज रचना का सूत्र है।

ऐसे समझदार परिवार व्यवस्था के रूप में जीता है। तब यही परिवार सभा के रूप में गण्य होता है।

7 – मानवीय व्यवस्था (अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था)

विश्वास और विश्वास निरन्तरता व्यवस्था :-

मानव व्यवस्था में भागीदारी करने का उद्देश्य मानव लक्ष्य प्रमाणित करना।

मानव लक्ष्य – समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व परम्परा के रूप में प्रमाणित होना। ये हर परिवार में प्रमाणित होना, हर मानव में अनुभव होना।

व्यवस्था का इतिहास अभी गणतन्त्र शासन राजशासन के रूप में देखा जाता है। गणतन्त्र अथवा जनतन्त्र विधि से प्रतिनिधि व्यवस्था का कर्णधार होना पाया जाता है। कर्णधार का मतलब प्रतिज्ञापूर्वक निर्वाह करने वाला।

विगत 100 वर्ष में जो कुछ भी गणतान्त्रिक शासन प्रचलित हुई, कठिनाइयां जन्मी, सुगमताएं प्रमाणित हुई, ये सबको जांचने के बाद पता चला कि गणतान्त्रिक शासन नहीं हो सकता व्यवस्था हो सकती है। शासन विधि से इसी को व्यवस्था माना जाता है कि गलती को गलती से, अपराध को अपराध से रोकना। इनमें भागीदारी करना, क्रियान्वयन करना व्यवस्था माना जा रहा है। जबकि व्यवस्था मानव परम्परा में व्यवहारपूर्वक मानव संस्कृति सभ्यता विधि व्यवस्था मानव लक्ष्य को प्रमाणित करने के अर्थ में सार्थक होना पाया जाता है।

अभी तक गणतन्त्र प्रणाली में सबसे बड़ी मूल दुर्गति यही रही – धन नियोजन के उपरान्त ही मत संग्रहण होना पाया गया। इस प्रकार नोट वोट का गठबंधन हुआ। यही राजनैतिक अनाचार दुराचार और अपराधों का आधार बन चुकी है। यह इसका निराकरण समाधान, जागृत मानव परम्परा, दस सोपानीय व्यवस्था गति में समाधानित होती है।

मौलिक रूप में जन प्रतिनिधि के निर्वाचन में पैसा खर्च नहीं होगा। पैसा लगाना चाहिए या नहीं ऐसा पूछा जाये तो नहीं लगाना चाहिए ऐसा ही सब कहते हैं। कुछ लोगों को यह भी शंका होती है कि यह कैसे होगा।

10 व्यक्तियों को हर व्यक्ति अच्छी तरह पहचान सकते हैं व 10 व्यक्ति एक को। इस आधार पर निर्वाचन का मूल स्वरूप दस व्यक्ति। दस व्यक्ति में 1 व्यक्ति को निर्वाचित किया जाता है। ऐसे 10 व्यक्ति को एक परिवार माना जाता है। ऐसे 10 परिवारों से 10 निर्वाचित व्यक्ति एक परिवार समूह को स्थापित कर लेते हैं। ऐसे 10 परिवार समूह सभा से एक-एक व्यक्ति निर्वाचित हो कर एक ग्राम सभा को स्थापित करते हैं। ग्राम सभा के साथ पाँच समितियाँ कार्य करती हैं। समिति में कार्यरत व्यक्ति को ग्राम सभा मनोनीत करेगी।

ऐसे 10 ग्राम परिवार सभा में से एक-एक व्यक्ति का निर्वाचनपूर्वक 10 व्यक्ति एक ग्राम सभा समूह स्थापित करते हैं व ऐसे 10 ग्राम समूह सभा से 1-1 व्यक्ति एक क्षेत्र सभा व ऐसे 10 क्षेत्र सभा से एक-एक व्यक्ति निर्वाचित हो कर एक मण्डल सभा को स्थापित करते हैं। ऐसे 10 मण्डल सभा 1-1 व्यक्ति को निर्वाचित कर 10 जन प्रतिनिधियों से एक मण्डल समूह सभा स्थापित होती है। ऐसे 10 मण्डल समूह सभा में से एक-एक व्यक्ति निर्वाचित हो कर 10 जन प्रतिनिधियों से एक मुख्य राज्य सभा स्थापित होगी। ऐसे 10 मुख्य राज्य परिवार सभा में से एक-एक व्यक्ति निर्वाचित होकर एक प्रधान राज्य सभा को स्थापित करते हैं। जितने भी प्रधान परिवार राज्य सभा होती है उनमें से एक व्यक्ति निर्वाचित हो कर एक विश्व सभा स्थापित कर लेते हैं। इस विधि से निर्वाचन कार्य में पैसे का निवेश होना समाप्त हो जाता है।

ग्राम परिवार सभा से विश्व परिवार सभा तक हर सभा के साथ पाँच समितियाँ कार्यरत रहेंगी। आवश्यकतानुसार व्यक्तियों की संख्या मनोनीत के आधार पर ही रहेगी। पाँच समितियों का कार्यरूप:-

1. मानवीय शिक्षा संस्कार समिति
2. न्याय सुरक्षा समिति
3. उत्पादन कार्य समिति
4. विनिमय कोष कार्य समिति
5. स्वास्थ्य संयम समिति

इन्हीं पांच समिति के साथ हर सभा के सम्मुख प्रस्तुत अन्यान्य कार्यों को समावेश किया जाता है। ऐसे कार्य को ग्राम परिवार सभा से सभी आठ परिवार सभाएं अपनी स्थिति गति के अनुसार निश्चय करेगी।

8 – अस्तित्व दर्शन: सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन

सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व सहज स्वरूप – सत्ता में संयुक्त जड़-चैतन्य प्रकृति :-

प्रकृति अपने स्वरूप में 4 अवस्थाओं में है- पदार्थावस्था प्राणावस्था जीवावस्था व ज्ञानावस्था।

चैतन्य प्रकृति- जीवावस्था, ज्ञानावस्था

जड़ प्रकृति- पदार्थावस्था, प्राणावस्था

ज्ञानावास्था में मानव गण्य है। ज्ञानावस्था में गण्य होने का आधार जीवन व शरीर का सहअस्तित्व। शरीर रचना में विशेषता यही है कि जीवन सहज कल्पनाशीलता कर्मस्वतन्त्रता को प्रमाणित कर पाना। जीवन में समझने की व्यवस्था बनी हुई है।

मन में संबंधों को पहचानने और निर्वाह करने की व्यवस्था है ये जागृतिपूर्वक सम्पन्न होती है।

1. वृत्ति में न्याय धर्म सत्य को पहचानने निर्वाह करने की व्यवस्था है। यह अनुभव मूलक विधि से सम्पन्न होता है।
2. चित्त में अनुभव सहज चिन्तन और प्रमाणित करने योग्य चित्रण करने की व्यवस्था है। यह अनुभव मूलक विधि से सार्थक होता है।
3. बुद्धि में अनुभव सहज बोध प्रमाणित करने का संकल्प प्रमाणित होने की व्यवस्था है।
4. आत्मा में सहअस्तित्व सहज अनुभव उसका प्रमाण स्पष्ट होता है।

यही जागृत जीवन की अभिव्यक्ति संप्रेषणा का अर्थ है।

9 – अस्तित्व

सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में है। यह मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद में स्पष्ट किया गया है। परस्परता के मध्य में खाली स्थली दिखायी पड़ती है यही सत्ता है। हर परस्परता के बीच यही वस्तु दिखती है, समझ में आती है।

सत्ता पारगामी है पारदर्शी है। इकाइयाँ अपनी परस्परता में एक दूसरे को पहचानते हैं यही पारदर्शिता का अर्थ है। सत्ता सभी वस्तु में आर पार रहता है। इसका प्रमाण सत्ता में संपृक्त प्रत्येक एक-एक ऊर्जा सम्पन्न रहना, क्रियाशीलता के आधार पर स्पष्ट होती है।

धरती क्रियाशील है ऊर्जासम्पन्न है।

परमाणु क्रियाशील है ऊर्जासम्पन्न है।

मानव क्रियाशील है ऊर्जावान है।

सम्पूर्ण जीव व वनस्पति संसार क्रियाशील है व ऊर्जासम्पन्न है।

इसी प्रकार धरती सौरव्यूह भी व अस्तित्व ऊर्जासम्पन्न होना समझ में आता है।

अस्तित्व में सम्पूर्ण क्रिया भौतिक रासायनिक व जीवन क्रिया के रूप में है। भौतिक क्रिया के रूप में परमाणु ही ठोस विरल के रूप में विद्यमान है। रसायन संसार ठोस तरल विरल के रूप में प्रस्तुत है। जीवन क्रिया जीव संसार में वंशानुषंगी विधि से कार्य करता है। जबकि ज्ञानावास्था में मानव में कल्पनाशीलता कर्मस्वतन्त्रता सहित अनुभवमूलक विधि से जागृति को प्रमाणित करता है।

संज्ञानशीलता में संवेदनशीलता नियन्त्रित रहते है। मानव जब समझदार होते हैं अर्थात् जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान से सम्पन्न होते हैं तो संवेदनाएं नियंत्रित होती हैं। नियंत्रित मतलब व्यवस्था में जीना। व्यवस्था में भागीदारीपूर्वक आचरण करना। यही मुख्य बात है।

इस प्रकार चारों अवस्थाओं को अध्ययनपूर्वक चिंत में साक्षात्कार कर लेना, बुद्धि में अध्ययन बोध होना फलस्वरूप अनुभव व प्रमाण से पुनः अनुभव बोध होना संकल्पित होना और चिन्तन होना (अनुभव बोध का)। ऐसे बोध का चिंतन चित्रण तुलन विश्लेषण आस्वादन व चयन क्रियाएं सम्पादित होते हैं। इसे हर मानव अपने में परीक्षण निरीक्षणपूर्वक पहचान सकता है। अनुभव प्रमाणित कर सकता है। सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व दर्शन का अर्थ यही है।

क्रियाशीलता ही श्रम गति परिणाम के रूप में व्याख्यायित है। फलस्वरूप (परमाणु में) विकास क्रम सहअस्तित्व में प्रमाणित है। विकास क्रम रासायनिक भौतिक वस्तुओं के रूप में स्पष्ट है। रासायनिक-भौतिक रचना का विकसित रूप मनुष्य है क्योंकि कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता मानव में ही प्रमाणित हुई है।

विकास क्रम में संपूर्ण परमाणु भौतिक रासायनिक क्रिया में भागीदारी करते हैं।

विकास परमाणु में होता है। परमाणु में गठनपूर्णता होना अवश्यम्भावी क्रिया है जो संपन्न होती है। गठनपूर्ण परमाणु चैतन्य इकाई या जीवन के नाम से जाना जाता है।

ऐसे गठनपूर्णता परिणाम का अमरत्व रूप में प्रमाण प्रस्तुत है। ऐसे गठनपूर्ण परमाणु स्वयं में जीवन रूप में विद्यमान है। ऐसे ही कुछ जीवन जीव शरीरों को चलाने में कुछ मानव शरीर को चलाने में अभ्यस्त हैं। मानव शरीर को चलाने वाले सभी जीवन सुखी होना चाहते हैं। सुखी होने के लिए मनाकार को साकार किया हुआ है इसी क्रम में मनःस्वस्थता एक आवश्यकता है। मनःस्वस्थता अपने स्वरूप में सर्वोत्तमोत्तम समाधान रूप में प्रमाण है। यह समझदार मानव में प्रमाणित होना पाया गया। समझदारी ज्ञान, विवेक विज्ञान सम्पन्नता ही है। यह प्रमाणित होना ही जागृत मानव का मतलब है।

जागृतिपूर्वक ही क्रियापूर्णता आचरणपूर्णता प्रमाणित होता है। ज्ञान विज्ञान विवेक सम्पन्नता के लिए अध्ययन ही एक मात्र आधार है। अध्ययनपूर्वक ही मानव सर्वोत्तमोत्तम समाधान सहज विधि से अभिव्यक्त होना संप्रेषित होना पाया गया है। यही अखण्ड समाज सूत्र है। इस सूत्र के अनुसार हर मानव व्याख्यायित होने की स्थिति में अखण्ड समाज की सूत्र व्याख्या स्वयं सिद्ध हो जाता है।

आज की स्थिति में हर मानव सुरक्षित होना संभव है। समुदाय चेतना विधि से मानव चलकर हर तरीके से समस्याओं को मोल चुका है। समस्याएं दुख का कारण हैं।

10 – जागृत मानव ही अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रमाणित करते हैं इसकी आवश्यकता बनती है।

मानव जागृत होने का प्रमाण सहअस्तित्व को विधिवत अध्ययन करने के उपरान्त अनुभवमूलक विधि से प्रमाणित करना है। अध्ययन करने में मानव ध्यान देना आवश्यक है। अध्ययन के उपरान्त प्रमाणित करने में ध्यान देना आवश्यक है।

सहअस्तित्व सहज अनुभव ही जागृति का प्रमाण है। जागृति के अनन्तर हर मानव समुदाय चेतना में अखण्ड समाज चेतना में परिवर्तित होना पाया जाता है। यह परिवर्तन ही जागृति है। मानव एक ही जाति में होना समझ में आता है।

मानव जाति एक होने के आधार पर सुख के रूप में समझ में आता है। सुख रूपी मानव धर्म समाधानपूर्वक प्रमाणित होता है। ये सहअस्तित्व में अनुभव होने की महिमा है। सहअस्तित्व सहज अध्ययन ही अनुभव होने का स्रोत है। सहअस्तित्व सहज अध्ययन के लिए स्रोत है मध्यस्थ दर्शन – सहअस्तित्ववाद। इसमें संबंधित सभी वाङ्मय (किताबें) उपलब्ध है।

चारों अवस्थाओं के अध्ययन से चारों अवस्थाएं परस्पर उपयोगिता व पूरकता के अर्थ में जुड़े हैं यह तथ्य समझ में आता है। क्योंकि इस धरती पर पदार्थावस्था के अनन्तर प्राणावस्था प्रकट हुआ है। जीवावस्था और ज्ञानावस्था के

शरीर रचना भी प्राणावस्था के प्राणकोषा से ही रचित रहता है। इन कोशाओं में गुणात्मक परिवर्तन विधि भी बनी रहती है। इसकी गवाही में अनेक प्रकार के वनस्पति देखने को मिल रहे हैं। इसी में गुणात्मक विकास द्वारा जीव शरीर व विकास से ज्ञानावस्था के मानव शरीर बने। जीवन अस्तित्व में रहता ही है। क्योंकि जीवन गठनपूर्ण होने के उपरान्त क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता के रूप में प्रमाणित होना है। नहीं तो जीव शरीर को चलाना ही होता है।

मानव परम्परा में ही अध्ययन करने का और अनुभव करने का अवसर बनी। इसी आधार पर सर्वमानव में कल्पनाशीलता व कर्म स्वतन्त्रता कार्यरत रहना होता है। इसी के आधार पर मानव मनाकार को साकार करना और मनःस्वस्थता को प्रमाणित करता है। मनःस्वस्थता का प्रमाण न्याय धर्म सत्य को प्रमाणित करना ही है।

न्याय मानव की परस्परता में, मनुष्येतर प्रकृति की परस्परता में प्रमाणित होता है। फलस्वरूप मानव में सन्तुष्टि व मनुष्येतर प्रकृति में संतुलन बनता है। जिसकी आवश्यकता सर्वमानव में होना पाया जाता है।

धर्म अपने स्वरूप में सुखी होना ही है। यह मानव परम्परा में समाधान के रूप में मनुष्येतर प्रकृति के साथ नियम नियन्त्रण के रूप में क्रियान्वयन होना पाया जाता है। यही जीवन विद्या की अपेक्षा है। मध्यस्थ दर्शन – सहअस्तित्ववाद का उद्देश्य यही है।

मानव सुखी होने के लिए आतुर-कातुर रहता ही है। समाधान समृद्धि अभय सहअस्तित्वपूर्वक सर्वमानव सुखी होना पाया जाता है। सहअस्तित्व सहज प्रमाण दस सोपानीय व्यवस्था के रूप में ही इसे प्रमाणित करता है। यह हर जागृत मानव के रूप में सहज प्रवृत्ति है। इसीलिए जागृत मानव परम्परा ही इस धरती पर परम्परा सहज निरन्तरता बनाये रखना स्वभाविक है।

समुदाय चेतना विधि से, बैर-विरोध से मुक्त नहीं हो पाया। बैर-विरोध जब तक है मानव सुखी होना संभव नहीं है। यह जागृति सहज परम्परा व समाधानपूर्वक ही प्रमाणित हो पाता है।

अखण्ड समाज ही सार्वभौम व्यवस्था का प्रमाण हो पाता है। कोई समुदाय अखण्ड समाज चेतना को प्रमाणित करने में असमर्थ है। इसीलिए सहअस्तित्ववादी विधि से जीना आवश्यक होगा ही। क्योंकि युद्धोन्माद लाभोन्माद को बनाये रखने के आधार पर मानव हर समुदाय धरती को बर्बाद करने में लग चुके हैं। धरती बर्बाद हो जाए तो मानव कहाँ रहेगा, इसका उत्तर कौन समुदाय बतायेगा।

आज की स्थिति में अर्थात् लाभोन्माद युद्धोन्माद प्रभावित रहते हैं। कोई समुदाय में उत्तर देने का मार्ग नहीं है।

इसका उत्तर केवल सहअस्तित्व मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन से बोध होना संभव हो गया। इसको कुछ लोग अध्ययन कर देख चुके हैं। सर्वशुभ चाहने वाले मानसिकता के लिए ये अध्ययन सुलभ होता देखा गया। अपने समुदाय को परिवार को व्यक्ति को शोषण विधि से सुविधा संग्रहपूर्वक सुरक्षित होने की कल्पना जब तक है तब तक संघर्ष से मुक्त होना संभव नहीं। संघर्ष अन्ततः शोषण युद्ध में ही अन्त होता है। युद्ध व शोषण ये दोनों अखण्ड समाज चेतना व नियति सहज नियमों के विरोधी हैं।

युद्ध के मानसिकता को बनाये रखने के लिए शोषण एक आवश्यकता है। शोषण से संग्रह प्रवृत्ति और सुविधा व अधिकार सुरक्षा की प्रवृत्ति को सुरक्षित करने की हर समुदाय ने अपने अपने ढंग से प्रयत्न किया है। इसका प्रमाण यही है कि धरती के सभी देश युद्ध को वैध मान चुके हैं व हर संविधान व्यापार के रूप में शोषण को वैध मान चुका है। इसीलिए हर मानव इस बात को सोचने की आवश्यकता है कि युद्ध-शोषण आवश्यक है कि नहीं। अभी तक हर समुदाय शोषण-युद्ध करने की प्रक्रिया प्रयास को संघर्ष नाम दिया है। यह प्रवृत्ति कहां तक सर्वशुभ के लिए सूत्र पायेगा यह सोचने का मुद्दा है। और इसके साथ सर्वशुभ सूत्र को पहचानने की भी जरूरत है। इसी क्रम में जीवन विद्या प्रस्तुत है। यह मध्यस्थ दर्शन का ही रूप है।

जागृत मानव क्या-क्या करेगा क्या नहीं करेगा: सामान्य आंकलन व मूल्यांकन का आधार

1. प्रमुख रूप में जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करेगा। जागृति सहज प्रमाण का स्वरूप ज्ञान विवेक विज्ञान सम्पन्नता रहेगी
2. मानव लक्ष्य को प्रमाणित करेगा। कम से कम समाधान समृद्धि को प्रमाणित करेगा।
3. परिवार में व्यवस्था सूत्र व्याख्या के रूप में जियेगा।
4. समझे हुए को समझाने में, किये हुए को करने में व सीखे हुए को सिखाने में प्रवृत्त रहेगा।

क्या नहीं करेगा :-

1. झूठ नहीं बोलेगा।
2. रहस्य को बनाये नहीं रखेगा।
3. शोषण कार्य से मुक्त रहेगा।

11 -अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है।

भागीदारी का प्रयोजन पूरकता उपयोगिता को प्रमाणित करना।

सर्वप्रथम परिवार में पूरकता उपयोगिता को प्रमाणित करना होता है। परिवार में पहचान बनाए रहता है। ये विशाल होते-होते विश्व तक पहचान होने की संभावना बनी है। मानव अपनी पहचान को बनाने का इच्छुक है ही। सकारात्मक अर्थात् मानव लक्ष्य पूरा होने के अर्थ में प्रामाणिकता सहित पहचान बनाना एक आवश्यकता है। ऐसे आवश्यकता की पूर्ति समझदारीपूर्वक गवाहित होने के बाद स्पष्ट हो चुकी है।

परिवार में ही सभी प्रकार के संबंध हैं। वहीं पर संबोधन सुलभ रहता है। प्रयोजन के अर्थ में आचरण व्यवहार करना जागृत मानव का एक स्वभाव है। इसका विरोध संभव नहीं। भले ही भ्रमित परिवार में भी इसके योग्य न होते हुए भी इसे नकारना बनता नहीं।

भ्रम से मुक्त जागृतिपूर्ण कार्य व्यवहार सर्वमानव को स्वीकार होता है। इसी आधार पर परिवार में भी स्वीकृत होता है। सहीपन का स्वीकार स्वभाविक है।

जागृत मानव सहीपन का प्रमाण होता ही है। मानव नियति विधि से ज्ञानावस्था में होने के आधार पर नियतिसहज नियम नियन्त्रण सन्तुलन, न्याय धर्म सत्यसहज ज्ञाता, प्रमाणसहज अभिव्यक्ति का होना पाया जाता है। यही जागृति है।